दंसण मूलो धम्मो

# आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९३ सम्पादक-ब्र०गुलाबचन्द जैन वर्ष २३ अंक नं० २

## —: आराधना की प्रेरणा :—

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

अरे जीव, यह शरीर तो अवधि पूर्ण होने पर तुझे छोड़ देगा, परंतु तू सामने से मोह को छोड़कर शरीर की प्रीति छोड़। ऐसा अशुचि का पिण्ड यह क्षणभंगुर शरीर तुझे क्यों प्रिय लग रहा है ? और परम सुखमय पवित्र चैतन्यस्वभाव क्यों प्रिय नहीं लगता ? एक बार आत्मा को प्रिय बना और जगत का प्यार छोड़! (जगत इष्ट नहि आत्मथी मध्य पात्र महाभाग्य) तेरा चैतन्य देव तुझसे पृथक् कहीं देश-देशांतर में नहीं है, तेरा देव तुझसे किंचित् दूर नहीं है, वह तुझमें ही है। अंतर्दृष्टि से प्रयत्न करके देखे तो तुझमें ही विराजमान शाश्वत चैतन्यदेव तुझे स्पष्ट दिखायी देगा.... वही भगवान है, वही महिमावंत है, वही परम अर्थात् उत्कृष्ट होने से परमात्मा है; वही दिव्य चैतन्यवाला देव है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा उसी की सेवा तथा आराधना कर। उसकी आराधना से तू भव समुद्र का किनारा प्राप्त कर लेगा अंतर्मुख होकर चैतन्य के ध्यान द्वारा मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। (प्रवचन से)

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जून १९६७] वार्षिक मूल्य ३) ( २६६ ) एक अंक २५ पैसा [ ज्येष्ठ सं० २०२४

# विषय-सूची


गुण का स्वभाव

स्वानुभूति में व्यवहार नहीं

तत्त्वचर्चा

शुद्धोपयोग के समान दूसरा कोई नहीं

सम्यग्दृष्टि शुद्ध स्वभाव का अनुभवनशील है

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं और न हो सकते हैं

विविध वचनामृत

शुद्धानुभूति हमको सदा प्रगट हो

साधक का अपूर्व पुरुषार्थ

मोक्ष और मोक्ष का कारण

शुद्ध चैतन्य को अंतर में देखो

जुदा.. जुदा.. और जुदा

निर्विकल्प स्वानुभूति होने का सुंदर वर्णन

और ठौर क्यों हेरत प्यारा (पद)

स्वानुभव की ओर झुकनेवाली विचारधारा

आत्मा क्या है और वह क्या करता है ?

ज्ञानी की सहज वैराग्य परिणति

प्यासे के लिये प्याऊ

सम्यक्त्व महिमा

समाचार संग्रह



# आत्मधर्म

## आजीवन सभ्य योजना

आत्मधर्म मासिक पत्र के हजारों की संख्या में ग्राहक हैं। पत्र ज्यादा से ज्यादा विकसित बने और उनके स्थायी ग्राहकों को हरसाल वार्षिक शुल्क भेजने का कष्ट न हो, संस्था को भी व्यवस्था में सुविधा रहे। अत: ऐसा निर्णय किया गया है कि- १०१) रुपये लेकर 'आजीवन सभ्य' योजना चालू की जाये, एवं उन्हें 'आत्मधर्म' हरसाल बिना वार्षिक शुल्क भेजा जाये। अत: जो सज्जन इस योजना से लाभ उठाना चाहें, वे निम्न पते पर १०१) रुपया भेजकर इस योजना में सहयोग प्रदान करें। यह योजना गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं के 'आत्मधर्म' के लिये चालू की गई है।

पत्र व्यवहार का पता—

मैनेजर दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

# आत्मधर्म

: संपादक : श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

जून : १९६७ ☆ वर्ष २३वाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४९३ ☆ अंक : २

## गुण का स्वभाव

गुण का स्वभाव गुणरूप रहने का है, दोषरूप होने का नहीं है। ज्ञान-गुण का स्वभाव ज्ञानरूप रहने का है, अज्ञानरूप होने का उसका स्वभाव नहीं है; सुख का स्वभाव सुखरूप रहने का है, दु:खरूप होना उसका स्वभाव नहीं है। प्रभुत्व का स्वभाव प्रभुतारूप रहने का है, पामर होना प्रभुता का स्वभाव नहीं है।—इसप्रकार आत्मा के प्रत्येक गुण का स्वभाव गुणरूप-शुद्धतारूप होना है, परंतु दोष या अशुद्धतारूप होना किसी गुण का स्वभाव नहीं है। इसलिए मलिनता-विकार या दोष, वह वास्तव में आत्मा के गुण का कार्य नहीं है, इसलिए उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते। स्वशक्तिसन्मुख होकर निर्मलभावरूप परिणमित हुआ, वही वास्तव में आत्मा है।

[-वर्तमान प्रगट दशा में पराश्रयरूप अशुद्धता होती है, वह तो पर्याय का अशुद्ध धर्म है, द्रव्य का गुण नहीं है; इसलिए अशुद्धता-व्यवहार अभूतार्थ है; वह मोक्षमार्ग में आश्रय करनेयोग्य नहीं है, आश्रय तो नित्य भूतार्थ का ही करना चाहिये।]

# स्वानुभूति में व्यवहार नहीं

स्वानुभूति की रीति बताकर संत कहते हैं कि हे भाई! स्वानुभूति की ओर जाते समय बीच में व्यवहार आवेगा, विकल्प आवेंगे, परंतु अपना लक्ष्य तो शुद्धात्मा के ऊपर ही रखना, विकल्पों को साधन मानकर उनमें अटकना नहीं। स्वानुभूति विकल्पों के द्वारा नहीं होती, शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य सब स्वानुभूति के बाहर है।

निर्विकल्प जीववस्तु ज्ञानमय है, उसके अनुभव में व्यवहार का अवलंबन नहीं, इसके लिए श्री आचार्यदेव कहते हैं—

**व्यवहरणनयः स्यात् यद्यपि प्राक्पदव्या**
**मिह निहित पदानां हन्त हस्तावलम्बः।**
**तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं**
**परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥५॥**

निर्विकल्प जीववस्तु है, उसका अनुभव निश्चय है परंतु जब उस निर्विकल्प जीववस्तु का उपदेश करना हो, तब उसमें गुणगुणी-भेद डालके कहना पड़ता है, तब कम से कम इतना तो कहना ही पड़ता है कि 'ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप जीव है'—इतना व्यवहार है। 'देह की क्रिया करे, सो जीव' या 'राग करे, सो जीव' यह बात यहाँ नहीं ली है परंतु 'ज्ञान, सो जीव' यह बात ली है और यह व्यवहार भी स्वानुभव के समय छूट जाता है—ऐसा कहेंगे। प्रथम आत्मा के अनुभव के लिये उसका स्वरूप जानने की जिसकी जिज्ञासा हुई है, ऐसा जीव जब पूछता है कि 'प्रभो, आत्मा का स्वरूप क्या है?' तब श्रीगुरु उसको समझाने के हेतु अभेद आत्मा में भेद उत्पन्न करके व्यवहार से कहते हैं कि 'ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप आत्मा है।' वह अनुभव करनेयोग्य है। कौन अनुभव योग्य है? आत्मा अनुभव योग्य है, गुणभेद अनुभव योग्य नहीं, बीच में विकल्प उठा, वह आत्मरूप में अनुभवने योग्य नहीं; उन विकल्पों के द्वारा आत्मा जानने में नहीं आता। यदि रागरूप आत्मा कहा जाये तो कहते हैं कि नहीं, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। समझने की भूमिका में तीव्र बुद्धिवाला हो तो भी कम से कम इतना भेद-विकल्प तो आता ही है कि वह व्यवहार है—परंतु जब आत्मा का अनुभव किया जाता है, तब

उस अनुभव में कोई विकल्प नहीं है, इसलिये शुद्धात्मा के अनुभव के काल में तो विकल्परूप व्यवहार कुछ भी नहीं है, इसलिये इसका यह अर्थ हुआ कि जिसका पहले से ही विकल्प से पार 'वस्तु' पर लक्ष्य है, वही विकल्प को तोड़ शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। परंतु प्रथम से ही जिसकी विकल्प-आश्रित बुद्धि है—व्यवहार के अवलंबन का प्रेम है, वह तो विकल्पों के ही अनुभव में अटका रहेगा, विकल्प से हटकर अन्तरंग स्वरूप में तो आवेगा नहीं, अतः उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होगा।

देखो, यह शुद्धात्मा के अनुभव की रीति! बीच में व्यवहार आवेगा, विकल्प आवेगा, किन्तु अपना लक्ष्य तो शुद्धात्मा में ही रखना चाहिये, शुभराग-शुभविकल्प को साधन मानकर उनमें रुकना नहीं। 'नमः समयसाराय' कहकर जिस उपादेयतत्त्व की अनुभूति का आरम्भ किया है, उसकी स्वानुभूति विकल्प के द्वारा नहीं होती। शुद्ध आत्मा को नमस्कार कर अर्थात् उसे ही उपादेय करके जिस शिष्य ने स्वानुभूतिरूप मोक्षमार्ग का प्रारंभ किया है, वह बीच में दूसरे किसी भी परभाव के (-भेद अर्थात् व्यवहार के) अवलंबन में रुकता नहीं है। यह जो विकल्प है, वह मुझे शुद्धात्मा के अनुभव करने के लिये किंचित भी कार्यकारी नहीं है। शुद्ध आत्मा के अनुभव के काल में व्यवहार झूठा है, असत्य है—अर्थात् उस अनुभव के समय विकल्परूप व्यवहार होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन-चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है, उस समय ऐसा ही शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। ऐसे अनुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं है, धर्म नहीं है अर्थात् मोक्षमार्ग भी नहीं है।

सहज ज्ञानस्वरूप का जिसको अनुभव नहीं है, और द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने का जो अभिलाषी है, ऐसे जीव को अभेद-अनुभव होने के पूर्व गुण-गुणी के भेद का विकल्प आये बिना रहता नहीं; फिर भी स्वानुभव के समय तो वह व्यवहार बिलकुल नहीं है। स्वानुभव में भेद का अवलंबन जरा भी नहीं है, अविद्यमान है, इसलिये स्वानुभव में तो वह व्यवहार झूठा है, असत् है। जहाँ वस्तु का परमार्थ स्वरूप अनुभव में आ गया, वहाँ भेद-विकल्प का कुछ भी प्रयोजन रहा नहीं।—ऐसा जीव शुद्ध चैतन्य प्रकाश-जितनी ही 'जीववस्तु' का अनुभव करता है, उसे ही अंतरंग में देखता है; अंदर की अनुभवदशा के समय व्यवहार सहज छूट जाता है; और पश्चात् भी व्यवहार के विकल्प में एकत्वबुद्धि धर्मी को कभी नहीं होती।

वस्तु का त्रैकालिक शुद्धस्वरूप परम उत्कृष्ट, उपादेय है और द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा देहादि नोकर्म से रहित है। इसप्रकार परभाव से रहित ऐसी निज परमवस्तु को अंतरंग में स्पष्ट प्रतिभासरूप देखना—अनुभवरूप स्वानुभूति को प्राप्त करना, वही परमार्थ है; ऐसी परमार्थ अनुभूति ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन भी ऐसी अनुभूति द्वारा प्रगट होता है। भेद-विकल्परूप व्यवहार कुछ परमार्थ वस्तु नहीं है, न उपादेय है, कारण कि—मोक्षमार्ग में उसका आश्रय जरा भी नहीं है।

शुद्धनय, अर्थात् निर्विकल्प वसतु के आश्रय से मोक्षमार्ग है। शुद्धनय का आश्रय ही 'नयातिक्रांतिपना' है, कारण कि—वह शुद्धनय दोनों नयों के विकल्प से पार है, दूर है। ऐसा समझाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—हे देव! तेरी शुद्धात्मा के सिवाय अन्य सभी स्वानुभूति से बाह्य है; अतः शुद्धात्मा के सिवाय कहीं भी अन्यत्र आश्रय मानकर रुकना नहीं।

## प्रभु तेरी प्रभुता!

[एक बार हाँ तो कर]

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है, इसका क्या कभी विचार किया है? तुम्हारा कौन सा निवास स्थान है और तुम्हारा क्या कार्य है, क्या तुम्हें इसकी खबर है? प्रभु! विचार तो करो कि तुम कौन हो और यह सब क्या है? तुम्हें शांति क्यों नहीं है?

प्रभु! तुम सिद्ध हो, स्वतंत्र हो, परिपूर्ण हो, वीतराग हो। लेकिन तुम्हें अपने स्वरूप की खबर नहीं है, इसी से तुझे शांति नहीं है। भाई! वास्तव में तू घर भूल गया है, भूला हुआ है, दूसरे के धर को तूने अपना निवास स्थान मान लिया है; लेकिन बापू! इस तरह अशांति का अंत नहीं आवेगा?

भगवान! शांति तो तेरे अपने घर में ही भरी हुई है भाई!

# तत्त्वचर्चा

[संवत् २०२१, चैत्र वैशाख के बीच पूज्य स्वामीजी एक मास राजकोट पधारे थे, उस समय प्रतिदिन रात्रि के समय तत्त्वचर्चा-प्रश्नोत्तरी का कार्यक्रम जिज्ञासुओं को रस उत्पन्न करता था; उस प्रश्नोत्तरी में से तथा सोनगढ़ की तत्त्वचर्चा में से कितनी ही उपयोगी बातों का सार यहाँ दिया जाता है।]

(१८) **प्रश्न**—क्या ऐसा हो सकता है कि—एक तरफ तो परद्रव्य को जानने की तरफ परिणति होती हो, अर्थात् उपयोग बाहर जाता हो और उसी समय वीतरागता बनी रहे ?

**उत्तर**—स्वाश्रय से जितनी वीतराग-परिणति हुई है, उतनी वीतरागता तो परज्ञेय की तरफ लक्ष देते समय भी टिकी ही रहती है। लेकिन साधक को परज्ञेय की तरफ उपयोग देते समय पूरी वीतरागता नहीं होती, उस समय भी चारित्रदोष से बुद्धिपूर्वक राग अर्थात् विकल्प होते रहते हैं। परज्ञेय की तरफ उपयोग जाता हो और संपूर्ण वीतरागता बनी रहे, ऐसा नहीं होता, वहाँ राग का अवश्य सद्भाव रहता है। लेकिन उस भूमिका में जितनी वीतरागता उत्पन्न हुई है, उतनी तो उस समय भी टिकी रहती है; जैसे कि चौथे गुणस्थान में परलक्ष के समय भी अनंतानुबंधी राग-द्वेष तो उत्पन्न होता ही नहीं है; छट्ठे गुणस्थान में परलक्ष के समय (संज्वलन के सिवाय) तीन कषायें तो होती ही नहीं, इतनी वीतरागता वहाँ टिकी रहती है। केवली भगवान परज्ञेय को जानते हैं लेकिन उन्हें पर में उपयोग नहीं देना पड़ता, स्व में ही उपयोग लीन है।

(१९) **प्रश्न**—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इसप्रकार धर्मध्यान के जो चार प्रकार हैं, उसमें कितने सविकल्प हैं और कितने निर्विकल्प हैं ?

**उत्तर**—परमार्थ से तो चारों ही प्रकार का धर्मध्यान बुद्धिपूर्वक राग के अभाव अपेक्षा निर्विकल्प है, क्योंकि जिस समय विकल्प छूटकर उपयोग 'स्व' में स्थिर होता है, उसी समय सच्चा धर्मध्यान कहा जाता है। पहिले, पिण्डस्थ से अर्थात् देह में स्थित शुद्ध आत्मा, पदस्थ अर्थात् शब्द का वाच्यरूप शुद्ध आत्मा, रूपस्थ अर्थात् अरिहंत सर्वज्ञदेव तथा रूपातीत अर्थात्

देहातीत सिद्ध परमात्मा—इन चार प्रकार के स्वरूपों के अमुक प्रकार से चिंतन जब दूसरे स्थूल विकल्पों से छूटकर मन को एकाग्र करने के समय आते हैं, उन्हें व्यवहाररूप से धर्मध्यान कहा जाता है, लेकिन तत्पश्चात् उन बुद्धिपूर्वक के चिन्तनों के भी विकल्प छूटकर जब निजस्वरूप में उपयोग जम जाता है, उस समय खरा धर्मध्यान कहा जाता है। इस तरह चार प्रकार के सविकल्प चिंतन को 'व्यवहाररूप से धर्मध्यान' कहा है, 'परमार्थ धर्मध्यान' तो निर्विकल्प है। 'परमार्थ धर्मध्यान' वीतराग है, और वही मोक्ष का साधक है। जितना अंश में स्वाश्रित निर्मल परिणति है, उतने अंश में निश्चयधर्म है, वह आंशिक वीतरागभाव ही है। उसका प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से हो जाता है।

(२०) **प्रश्न**—कभी-कभी ऐसा लगता है कि ज्ञेयों को जानते समय राग या द्वेष नहीं है, तो उस समय किसप्रकार से राग का सद्भाव समझना?

**उत्तर**—परिणति में जब तक वीतरागता नहीं हुई है, तब तक राग का सद्भाव है। उपयोग की स्थूलता में किसी समय राग-द्वेष का परिणाम भले ही न पकड़ में आये, परंतु उस समय भी भूमिकानुसार राग-द्वेष की परिणति रहती है। मिथ्यादृष्टि ऊपर से शांत बैठा हुआ दिखाई दे, परिणाम में शांति लगती हो, लेकिन उस समय भी कषायों में एकमेक परिणति होने से अनंतानुबंधी कषाय उसके हो ही रहा है। ज्ञानी के लड़ाई की क्रिया या क्रोध के परिणाम के समय भी अनंतानुबंधी राग-द्वेष का अभाव है। जीव के ऐसे सूक्ष्म परिणामों का माप ऊपर के स्थूल ज्ञान से नहीं होता।

(२१) **प्रश्न**—जिस तरह हरिण मृगजल के पीछे दौड़ता है, ठण्डी हवा के न आने पर भी भ्रम से पानी मानकर दौड़ता चला जाता है; उसी तरह शुभभाव मृगजल-जैसा है, उसमें अज्ञानी शांति खोजता है, वह भ्रम है, ऐसा आपने कहा, परंतु अशुभ मिटकर शुभभाव जहाँ होता है, वहाँ तो ठण्डी हवा आती है, ऐसा हमें लगता है, तो यह भ्रम कैसे टलेगा?

**उत्तर**—स्वभाव की अतीन्द्रिय शांति क्या चीज़ है, इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है, उस शांति को उसने कभी देखा भी नहीं, इससे शुभभाव में आकुलता कुछ थोड़ी होती हुई तो उसे भ्रम से शांति लगती है; वास्तव में तो शुभ परिणाम में भी शांति नहीं है लेकिन आकुलता ही है। धीर होकर सहज स्वभाव का गंभीर विचार करे, उसमें गहरा उतरे तो शुभराग में ही आकुलता और अशांति मालूम पड़ेगी; और तभी स्वभाव की शांति की ठंडी हवा आवेगी...

जिस समय निर्विकल्प अनुभव करेगा, उस समय स्वभाव की सच्ची शांति की खबर पड़ेगी। अहा, चैतन्य की शांति के वेदन के समक्ष ज्ञानी को शुभराग में भी आग से तप्त रेती जैसी आकुलता मालूम होती है। लेकिन यह स्वभाव जिसने कभी देखा नहीं है, उसको तीव्र संक्लेश में से कुछ मंद परिणाम होने से शांति लगती है, लेकिन यह वास्तविक शांति नहीं है। आत्मा की सच्ची शांति शुभराग से जुदी ही जाति की है।

(२२) **प्रश्न**—पर्याय संपूर्ण वस्तु नहीं है, फिर भी संपूर्ण वस्तु को किस तरह से जान लेती है ?

**उत्तर**—एक मतिज्ञान की पर्याय में भी ताकत है कि वह आत्मा को जान लेती है; यह सच है कि पर्याय स्वयं संपूर्ण वस्तु नहीं है, परंतु संपूर्ण वस्तु को जानने की ताकत उसमें है। केवलज्ञान पर्याय भले ही एक समय की है लेकिन समस्त स्व-पर को वह जान लेती है, ऐसी उसकी बेहद ताकत है। पर्याय स्वयं संपूर्ण वस्तु हो, तभी संपूर्ण वस्तु को वह जान सकती है, ऐसा कुछ नहीं है। जिस तरह आत्मा छह द्रव्योंरूप न होते हुए भी छहों द्रव्यों को जान लेता है, ऐसी उसकी ताकत है, उसी तरह एक पर्याय, संपूर्ण वस्तु न होते हुए भी, संपूर्ण वस्तु को जान ले, ऐसी उसकी ताकत है। जानने का कार्य तो प्रगट पर्याय में होता है, अप्रगट शक्तिरूप द्रव्य-गुण में नहीं होता।

(२३) **प्रश्न**—एक सम्यग्दृष्टि दूसरे सम्यग्दृष्टि को क्या पहिचान ही लेता है ?

**उत्तर**—हाँ, उस प्रकार का सीधा परिचय हो तो जरूर पहिचान लेता है।

(२४) **प्रश्न**—स्वानुभव मनजनित है कि अतीन्द्रिय ?

**उत्तर**—स्वानुभव में सचमुच तो मन या इन्द्रिय का अवलंबन नहीं है, इससे वह अतीन्द्रिय है; लेकिन स्वानुभव में मतिश्रुतज्ञान है और मतिश्रुतज्ञान मन या इन्द्रिय के अवलंबन बिना नहीं होता, इस अपेक्षा से स्वानुभव में मन का अवलंबन भी गिना है। वास्तव में जितने अंश में मन का अवलंबन टूटा, उतने अंश में स्वानुभव है; स्वानुभव में ज्ञान अतीन्द्रिय है।

(२५) **प्रश्न**—एक सूक्ष्म परमाणु या सूक्ष्म स्कंध अकेला स्थूलरूप से परिणमन कर सकता है या नहीं ?

**उत्तर**—नहीं, दूसरे स्थूल स्कंध के साथ यदि वह मिल जाये तो उसमें स्वयं स्थूलरूप परिणमन हो जायेगा। जिसप्रकार अनादि का अज्ञानी जीव, ज्ञानी के निमित्तपूर्वक ही ज्ञानी

होता है, उसी तरह स्थूल स्कंध के निमित्तपूर्वक ही दूसरे सूक्ष्म स्कंध या परमाणु स्थूलरूप से परिणत होते हैं, यह अनादि नियम है।

(२६) **प्रश्न**—सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है ?

**उत्तर**—स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा ही सम्यक्त्व के साथ ही होता है और ये दोनों पर्यायें (स्व-पर भेदज्ञान और सम्यक्त्व) एक ही स्वद्रव्य के आश्रय से हैं, इसलिये 'भेदविज्ञान' सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है। गुणभेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का लक्षण 'निर्विकल्प प्रतीति' आत्मभूत लक्षण है और सम्यक्त्व का लक्षण 'भेदविज्ञान' अनात्मभूत लक्षण है; ऐसा भी कहा जाता है। 'निर्विकल्प अनुभूति' सम्यक्त्व के साथ हमेशा ही नहीं होती, इसकारण उसे सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहते। सम्यक्त्व प्रकट होते समय निर्विकल्प अनुभूति जरूर होती है, इससे उसे 'सम्यक्त्व प्रकट होने का' लक्षण कह सकते हैं।

'अनुभूति (निर्विकल्प की)' सम्यक्त्व के सदभाव को प्रसिद्ध जरूर करती है। लेकिन जिस समय 'अनुभूति' नहीं होती, उस समय भी सम्यक्त्वी को सम्यग्दर्शन तो होता है, इसलिये अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कह सकते। लक्षण ऐसा होना चाहिये कि लक्ष्य के साथ सदा रहे, और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो।

(२७) **प्रश्न**—स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है, वह किस रीति से ? छद्मस्थ को तो कुछ भी स्व-पर का एकसाथ उपयोग होता नहीं है ?

**उत्तर**—प्रमाण को स्व-परप्रकाशक कहा है, वहाँ कुछ स्व और पर दोनों में एकसाथ उपयोग होने की बात नहीं है, लेकिन जिस ज्ञान ने स्व को 'स्व' रूप से और पर को 'पर' रूप से जाना है, वह सम्यग्ज्ञान प्रमाण है—इसतरह उसका स्व-पर प्रकाशकपना समझना। अवधि-मन:पर्यय का उपयोग तो 'पर' में ही होता है, तथापि वे भी स्व को 'स्व' रूप से और पर को 'पर' रूप से जानते हैं, इससे प्रमाण हैं। छद्मस्थ का उपयोग तो जब 'स्व' में होता है, तब 'पर' में नहीं होता, और जब 'पर' में होता है, तब 'स्व' में नहीं होता, फिर भी प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानी के सदैव रहता है, 'पर' को जानते समय भी 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा आत्मभान नष्ट नहीं हो जाता, यही ज्ञान की प्रमाणता है।

(२८) **प्रश्न**—दर्शनोपयोग में शुभ या अशुभ, क्या ऐसा कोई भेद पड़ता है ?

**उत्तर**—नहीं; शुभ या अशुभ ऐसा भेद दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग किसी में नहीं है,

यह तो चारित्र के आचरणरूप उपयोग का भेद है। चारित्र के आचरण में शुभ, अशुभ और शुद्ध—ये तीन प्रकार हैं, उसे शुभ-अशुभ या शुद्ध उपयोग कहते हैं।

(२९) **प्रश्न**—ज्ञानी का ज्ञान 'स्व' को 'स्व' और 'पर' को 'पर' जानता है, फिर भी उसका ज्ञानोपयोग 'स्व' में स्थिर नहीं रह सकता और 'पर' तरफ ज्ञान का उपयोग जाता है, तो वह ज्ञान का दोष ठीक है कि नहीं ?

**उत्तर**—'पर' में उपयोग के समय भी ज्ञानी के ज्ञान का सम्यक्पना तो नष्ट नहीं होता, और मिथ्यापन होता नहीं है, इसलिए इस अपेक्षा से उसके ज्ञान में दोष नहीं है; लेकिन अभी भी ज्ञान केवलज्ञानरूप नहीं परिणत होता, यह ज्ञान का दोष है। ज्ञान का स्वभाव केवलज्ञानरूप होना है, जब तक ज्ञान केवलज्ञानरूप में परिणत नहीं होता, तब तक ज्ञान सदोष है-आवरणवाला है—मिथ्या नहीं है, फिर भी सदोष तो है। ऐसा होते हुए भी, उस समय जो राग है, वह कोई ज्ञानकृत नहीं हैं, राग तो चारित्र का दोष है।

## सर्व धर्म का बीज

ज्ञान और चारित्र का बीज सम्यग्दर्शन ही है,

यम और प्रशमभाव का जीवन सम्यग्दर्शन ही है,

और तप तथा स्वाध्याय का आधार भी सम्यग्दर्शन ही है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

(ज्ञानार्णव, अध्याय ६, गाथा ५४)

# शुद्धोपयोग के समान दूसरा कोई नहीं

## ( सभी धर्म शुद्धोपयोग में समाविष्ट होते हैं )

[परमात्म प्रकाश-प्रवचनों में से]

आत्मा के अनुभव बिना शुद्धभाव नहीं होता, और शुद्धभाव के बिना धर्म नहीं होता; सम्यक्त्व भी शुद्धभाव है। सम्यक्त्व से लेकर सिद्ध पद तक के सभी पद शुद्धभाव में समाविष्ट होते हैं। इस तरह शुद्धभाव धर्म है; वही मुमुक्षु का मनोरथ है। इस आत्मा का शुद्धोपयोगरूप परिणमन होना ही मनोरथ है।

जिसे शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप शुद्धभाव नहीं है, उसे शुभभावरूप महाव्रत या प्रतिक्रमणादि भी हो तो भी संयम नहीं है। शुद्धभाव द्वारा संयम होता है; शुद्धभाव बिना सभी निरर्थक है। और शुद्धभाव भी परम आत्मतत्त्व के अनुभव बिना नहीं होता। इस तरह शुद्धात्मा का अनुभव मूल वस्तु है। संयम का मतलब है मुनिदशा अर्थात् छठा-सातवाँ गुणस्थान, वह शुद्धभाव के बिना नहीं होता और आत्मा के अनुभव बिना शुद्धभाव नहीं होता।

राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या चीज़ है, इसका जिसे भान नहीं है और राग में ही एकमेक रूप से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उस जीव को शुभराग के समय भी परमार्थरूप से आर्तध्यान ही है; शुद्ध आत्मा क्या चीज़ है, इसकी जिसे खबर भी नहीं है, उसे आत्मा का ध्यान कहाँ से हो ? आत्मा को पहिचाने बिना शुभराग करे तो उससे क्या ?—इससे आत्मा को धर्म का लाभ कुछ भी नहीं है। निर्विकल्प आनंद के पिण्ड आत्मा के अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और पश्चात् संयम होता है, इसके बिना तो संयम या मोक्षमार्ग होता नहीं है। आत्मा के अनुभव बिना अज्ञानी जो व्रतादिक करता है, उसमें उसे आकुलतारूप जलन ही है, उसमें उसे जरा भी निराकुल शांति नहीं है; शांति का जो धाम है, उसमें तो उसका प्रवेश ही नहीं हुआ।

जगत में प्रत्येक ६ मास और ८ समय के काल में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं; उतने ही जीव क्षपकश्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं; शुद्धात्मा के अनुभव के द्वारा ही वे केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करते हैं। भले ही कोई व्रतादि शुभराग करे, पर शुद्धात्मा के अनुभव बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है, न धर्म प्राप्त कर सकता है।

शुद्ध उपयोग में बहुत कुछ आता है, वही मोक्षमार्ग है और जगत में वही मुख्य है—यह (गाथा ६७ में) कहते हैं:—

**सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु।**
**सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु॥**

मोक्षमार्ग शुद्धोपयोग में आ जाता है। मुनिपना भी शुद्धोपयोगी के ही होता है। परमार्थ संयम, शील, व्रत, तप इत्यादि सब धर्म शुद्धोपयोग में आ जाते हैं। शुद्धोपयोगपूर्वक ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। शुभराग द्वारा न सम्यक्त्वादि होता है, न मुनिदशा। साधकदशा ही शुद्धोपयोग द्वारा होती है। जितने अंश में शुद्धता है, उतने ही अंश में मोक्षमार्ग है। हे भैया! अकेला परलक्षी ज्ञान भी जहाँ मोक्षमार्ग नहीं होता, वहाँ राग की क्या बात? उपयोग को अंतर्मुख एकाग्र करके जहाँ आत्मा स्वयं अपने में प्रवर्तित होता है, वह निश्चय से शील है, उसमें रागादि परभावरूप अब्रह्म का त्याग है और शुद्धभाव की रक्षा है। ऐसे शुद्धोपयोग के द्वारा ही केवलज्ञानादि होता है। प्रवचनसार में ऐसे शुद्धोपयोग की अत्यंत प्रशसा करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

**रे शुद्धने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञान-दर्शन शुद्धने,**
**शुद्धने निर्वाण, शुद्ध ज सिद्ध; प्रणमुं तेमने।**

आत्मा का शुद्धभाव ही वास्तव में धर्म है; इसके बिना जीव संसार की चार गतियों में घूम रहा है। बिना शुद्धभाव के जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, केवलज्ञान या मोक्ष कुछ भी नहीं होता। शुभराग द्वारा किसी को केवलज्ञान या सम्यग्दर्शनादि नहीं होता। आत्मा की निर्मल पर्यायरूप जितने धर्म हैं, वे सभी शुद्धोपयोग में समा जाते हैं। अत: शुद्धोपयोग ही धर्म का सर्वस्व है, और वही धर्मी का मनोरथ है, वही प्रशंसनीय है। इस शुद्धोपयोग से ऊँची जगत में कोई दूसरी चीज़ नहीं है। शुभोपयोग प्रशंसनीय नहीं है, शुभोपयोग सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, मुनिदशा नहीं, मोक्षमार्ग नहीं। शुभोपयोग से न तो केवलज्ञान होता है और न निर्वाण। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, मोक्षमार्ग, केवलज्ञान तथा सिद्धपद—ये सभी शुद्धोपयोग में समाविष्ट हैं। इसलिये आत्मा का जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसा जानकर उसमें एकाग्रतारूप जो शुद्धोपयोग, वही मोक्षार्थी का कर्तव्य है, मोक्षार्थी को वही आदरणीय है।

सिद्ध भगवंतों का पंथ तो एक शुद्धभावरूप ही है; शुद्धभाव से चलायमान मुनि मोक्ष

नहीं पा सकता। जीव चाहे जिस देश में चला जाये और चाहे जो करे, लेकिन शुद्धभाव के बिना वह कभी मोक्ष नहीं पा सकता; इसलिये सर्वप्रकार से शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है।

चाहे–जितना क्रियाकांड करे, शुभ परिणाम करे, परंतु जीव के परिणाम में जहाँ शुद्धता नहीं है, अर्थात् कि आत्मा का अनुभव नहीं और उसमें स्थिरता नहीं, उस जीव को मोक्ष नहीं हो सकता। इसीलिये संतों ने भावशुद्धि का प्रधान उपदेश दिया है। प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही भावशुद्धि है। सम्यग्दर्शन बिना कभी भी भावशुद्धि होगी नहीं, और अशुद्धि मिटती नहीं, अशुद्धि के नाश बिना मोक्ष कहाँ से हो ? चैतन्य का रंग जिसे लगा नहीं है और राग के रंग में जो रंग रहा है, उसे भावशुद्धि नहीं है, बिना भावशुद्धि का व्रत–तप–अध्ययन सभी व्यर्थ हैं, वे जरा भी मोक्ष के साधन नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि के तो अपना शुद्ध चैतन्य का रंग लगा हुआ है, और राग का रंग छूट गया है; राग को भिन्न जानकर शुद्धस्वभाव के अनुभव से जितना सम्यक्त्वादिरूप शुद्धभाव प्रकट किया है, उतना ही मोक्षमार्ग है। ऐसे शुद्धभाव के बिना किसी भी क्षेत्र में मोक्षमार्ग नहीं है। चाहे–जितना आचरण करे, पर जीव के जबतक शुद्धभाव नहीं होगा, तब तक मोक्षमार्ग नहीं होगा—यह नियम है, इसलिये हे जीव ! तू भावशुद्धि को जान और उसका उद्यम कर।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—

❀ अशुभ ❀ शुभ ❀ शुद्ध

❀ हिंसा, चोरी आदि पापपरिणाम अशुभ हैं, वे पाप बंध के कारण होते हैं।

❀ दया, दान, पूजा, व्रतादि पुण्यपरिणाम शुभ हैं, वे पुण्यबंध के कारण हैं।

❀ शुभाशुभ दोनों से रहित, मिथ्यात्वादि से रहित जो सम्यक्त्वादि शुद्ध वीतराग परिणाम, वह शुद्धभाव है, वही कर्मक्षय का कारण है। इसके सिवाय शुभ या अशुभभाव कर्मक्षय का कारण नहीं है लेकिन कर्मबंध का कारण है, अर्थात् वह धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्धभाव ही है।

रागादि परभावों में स्वभावबुद्धि अथवा लाभबुद्धि मिथ्यात्व है। और मिथ्यात्व बड़ा अशुद्धभाव है; सम्यक्त्व के द्वारा ही वह अशुद्धता मिटती है। शुभराग में ऐसी ताकत नहीं होती कि वह मिथ्यात्व की अशुद्धता को मेटे। इस तरह सम्यक्त्व भी शुद्धभाव है। सम्यक्त्व से लेकर सिद्धपद तक के सभी पद शुद्धभाव में आ जाते हैं। इस तरह शुद्धभाव धर्म है, वही मुमुक्षु का मनोरथ है। यह आत्मा शुद्धोपयोग रूप से परिणमे, यही मनोरथ है।●●

# सम्यग्दृष्टि शुद्धस्वभाव का अनुभवनशील है

आचार्यदेव कहते हैं कि व्यवहार तो अभूतार्थ है, वह कोई परमार्थवस्तुरूप नहीं है। अर्थात् उसको तो 'हंत' कहकर छोड़ने जैसा कहा है; शुद्धात्मा परमार्थ है, वही हमको प्राप्त हो, वही उपादेय है और उसी को सम्यक् प्रकार देखना, वही सम्यग्दर्शन है, ऐसे शुद्धात्मा का जो अनुभवनशील है, वह धर्मात्मा है। (व्यवहारनय मोक्षमार्ग में आश्रय करनेयोग्य नहीं है, इस अपेक्षा से अभूतार्थ कहा है और जानने के अर्थ में प्रयोजनवान है।)

[कलश टीका-प्रवचन]

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो, व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह, द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमात्, आत्मा च तावानयं।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमात्मायमेकोऽस्तु नः॥६॥

इस शुद्धात्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यही परमार्थ है; इसलिये यही हमको प्राप्त हो-ऐसी आचार्यदेव की भावना है। जीववस्तु अपने सहज स्वभाव से ही चेतनारूप है-ज्ञानरूप है; परंतु अपने मिथ्यात्वपरिणाम के कारण भ्रमित होकर जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी है। अब विकल्प से पार होकर शुद्धात्मा के अनुभव द्वारा वह मिथ्यापरिणाम दूर करके जीव अपने स्वरूप का अनुभवशील हुआ। ऐसे अनुभवशील हुआ, तब आत्मा को शुद्ध आत्मा कहा। क्या करने से जीव अनुभवशील हुआ? जीव अनादि से नवतत्त्वों के विकल्प में तन्मयरूप परिणमन करता था, उस नवतत्त्वों के विकल्प को छोड़कर अर्थात् नवतत्त्वों के विकल्प से भिन्न होकर, शुद्धस्वभाव का अनुभवशील हुआ, तभी से धर्म की शुरुआत हुई।

नवतत्त्वों की विकल्परूप परिणति, वह विभावपरिणति है; उस विभावपरिणतिरूप अनादि से जीव परिणमन कर रहा है; अकेला शुद्धतत्त्व को भूलकर, नवतत्त्वों के विकल्परूप ही आत्मा का अनुभव करना, वह मिथ्यात्व है। विकल्प, वह शुद्धजीव के स्वभाव की चीज़ नहीं है। शुद्धजीव के अनुभव में नवतत्त्वों के विकल्प नहीं है और उन विकल्पों के द्वारा शुद्धजीव का अनुभव हो सकता नहीं। इसलिये नवतत्त्वों के विकल्प में ही जो रुका हुआ है,

वह मिथ्यादृष्टि है। सब कर्मों की उपाधि से रहित ऐसी शुद्ध जीववस्तु का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। पहिले नवतत्त्वों का विकल्प आता है–उसका ज्ञान कराया परंतु उस विकल्प के ही अनुभव में नहीं रुकना, उसका अवलंबन छोड़कर, उससे आगे जाकर अंतरंग में एकरूप शुद्धजीववस्तु है, उसको देखने से ही सम्यग्दर्शन होगा। विकल्प का अनुभव तो विभाव है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं मानना। विकल्प आवेगा परंतु वह कोई मोक्षमार्गी का कर्तव्य नहीं है; मोक्षमार्गी का कर्तव्य तो शुद्ध सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है; उसी को नियमसार में 'नियम से कर्तव्य' कहा है, विकल्प तो विभाव है, उसे कर्तव्य माने उसको मोक्षमार्ग कैसा? पहिले वस्तु की स्थिति किसप्रकार है, मार्ग किसप्रकार है, उसका निश्चय करे, तब ही अंतर्मुख होने का जोरदार प्रयत्न हो सके। वस्तु के निर्णय में ही भूल होवे तो सच्चा प्रयत्न कहाँ से हो सके?

शुद्धजीव का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर ही सम्यग्दर्शन होता है; वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव तो ज्ञानपर्याय है परंतु उस ज्ञानपर्याय के साथ जो प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्ग होता है।

आत्मस्वभाव की महिमा आवे और अंतर्दृष्टि से परिणमन करे, तब मोक्षमार्ग होता है।

**प्रश्न**—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को कहा है?

**उत्तर**—सम्यग्दर्शन होने पर अंतर्दृष्टि से परिणमन हुआ, उसमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों गर्भित हैं। स्वानुभूति में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों समा जाते हैं। इनके सिवाय राग–रूप जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह तो विभावपरिणति है, वह कोई स्वभावपरिणति नहीं है। मोक्षमार्ग तो स्वभावपरिणति है। राग के यत्न से मोक्षमार्ग सिद्ध होता नहीं है।

स्वानुभव से जहाँ सम्यग्दर्शनादि हुए, वहाँ पूर्वबद्ध कर्म निर्जरित होने लगते हैं। ऐसी निर्जरापूर्वक मोक्षमार्ग होता है। सम्यग्दर्शन बिना सच्ची निर्जरा व मोक्षमार्ग होता नहीं है। चैतन्यरत्नाकर अर्थात् अनंत गुणरूपी रत्नों का समुद्र, उसमें निर्मल परिणति की तरंगें उल्लसित होती हैं। ऐसा आत्मा सम्यक्त्व का विषय है। सम्यक्त्व हुआ वहाँ आठों कर्मों से भिन्न आत्मा अनुभव में आया; पीछे तो अल्प कर्म बाकी हैं, वे परज्ञेय में हैं, स्ववस्तु में नहीं हैं। स्ववस्तु तो अपने एकत्वस्वभाव में स्थित निर्विकल्प है। शुद्धनय कहो या निर्विकल्पवस्तु की दृष्टि कहो, अतीन्द्रिय आनंद के प्रत्यक्ष स्वाद द्वारा निर्विकल्पदृष्टि से वस्तु को देखना सम्यग्दर्शन है। देखो, यह शुद्धदृष्टि; शुद्धनय, यही निर्विकल्प वस्तुदृष्टि; ऐसी दृष्टि से–

स्वानुभव से अतीन्द्रिय आनंदसहित शुद्धवस्तु को देखना मोक्षमार्ग है। जैसी वस्तु है, उसी दृष्टि से उसे देखना सम्यग्दर्शन है; वस्तु और उसको देखनेवाली दृष्टि दोनों एक जाति के हुए। शुद्धवस्तु कहीं रागरूप नहीं है अर्थात् उसको देखनेवाली दृष्टि भी रागरूप नहीं है। शुद्ध आत्मवस्तु निर्विकल्प, उसको देखनेवाली दृष्टि भी निर्विकल्प; उसके साथ सम्यग्ज्ञान और चारित्र भी आ जाते हैं; इसलिये शुद्धवस्तु को स्वानुभव से देखना मोक्षमार्ग है। शुद्धज्ञानचेतना द्वारा शुद्ध चैतन्यवस्तु को चेतना-अनुभव करना मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों ज्ञानचेतना में समा जाते हैं।

जीव की चेतना तीन प्रकार की है—

१. ज्ञानचेतना;

२. कर्मचेतना;

३. कर्मफलचेतना।

ज्ञानचेतना शुद्धचेतना है, वह जीव की स्वभावभूत है, वही मोक्षमार्ग है। दूसरी दो चेतनाएँ रागादिरूप अशुद्ध हैं, वे विभावरूप हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। अज्ञानी के अनादि से अशुद्ध चेतना है; चेतना विकार में ही तन्मय होकर विकार को ही जानती है, उस अनुभव में सम्यक्त्व नहीं है। चेतना सच्ची वह कहलाती है कि जो अपने चैतन्यस्वभाव को चेते-अनुभव करे; ऐसा अनुभव जीव ने पहिले कभी प्रगट किया नहीं। चेतना अंतर्मुख होकर अपने चेतनामात्र वस्तुस्वरूप को आस्वादे-अनुभव में ले-वही सम्यक् चेतना है, वही मोक्षमार्ग है।

शुद्ध जीववस्तु एकत्व में नियत है, इसलिये अपने शुद्धस्वरूप में ही रहती है। वह अपने निर्मल गुण-पर्यायों में ही रहती है—परभाव में जरा भी जाती नहीं है। इसप्रकार शुद्धआत्मा के स्वरूप को दृढ़ करके उसे दृष्टि में लो-उसे स्वानुभव में लो।

अहो, शुद्धवस्तुस्वरूप की कैसी महिमा की है। इसके अनुभव की जो अपार महिमा है, वही प्रसिद्ध की है।

स्वभाव के अचिंत्य आनंद का स्वाद ज्ञानी लेता है।

अज्ञानी किसका स्वाद लेता है? इसको शुद्धआत्मा का स्वाद नहीं है, उसीप्रकार जड़वस्तु के रस का स्वाद भी कुछ जीव में नहीं आता है; वह अशुद्ध चेतना द्वारा राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोक की आकुलता का ही स्वाद लेता है। अनादि से अज्ञानदशा में जीवों के

अशुद्ध चेतना के स्वाद का ही अनुभव है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभव बिना शुभराग करके पंच महाव्रतादि का पालन किया परंतु शुद्धचेतनावस्तु का स्वाद उसने नहीं लिया, उसने अशुद्धचेतना द्वारा मात्र विकार का स्वाद लिया। चाहे बड़ा राजा-महाराजा हो अथवा त्यागी हो परंतु शुद्धवस्तु का जिसको अनुभव नहीं है, वह मलिन स्वाद का ही अनुभव करता है, पवित्र आनंद का अनुभव उसे नहीं है। निगोद से लेकर नवम ग्रैवेयक तक के मिथ्यादृष्टि जीवों के सबके सामान्यरूप से 'अशुद्धचेतना' का अनुभव है, उसमें शुभ-अशुभ की अथवा मंद-तीव्र की तारतम्यता चाहे हो परंतु जाति तो अशुद्धचेतना की ही है; शुद्धचेतना सम्यग्दृष्टि के ही होती है। अज्ञानी के शुद्धचेतना नहीं और शुद्धचेतना के बिना मोक्षमार्ग नहीं। शुभराग का अनुभव अशुद्धचेतना ही है। अशुद्धचेतना मोक्षमार्ग कैसे हो ?

अरे, पहिले ऐसी वसतु की महिमा लक्ष्य में लेवे तो उसके प्रयत्न की उग्रता उत्पन्न हो। राग की ही जिसके महिमा होती है, उसके तो प्रयत्न भी राग के ही उत्पन्न होते हैं। अंतर के लक्ष्य में शुद्धस्वरूप की वास्तविक महिमा भासे तो उसी ओर का प्रयत्न उत्पन्न हुए बिना रहता नहीं। ज्ञान में जिसकी महिमा भासी, उस ओर चेतना जावे और उसका अनुभव करे। 'शुद्धजीववस्तु' कही, उसमें ही शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं। स्वानुभव होने पर अनंतगुण निर्मलरूप से परिणमन करने लगते हैं। ऐसी निर्मल गुण-पर्याय सहित शुद्ध जीववस्तु है। उसका अनुभव मोक्षमार्ग है; वही सम्यग्दर्शनादि है।

**प्रश्न**—यह सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप है या अभेदरूप ?

**उत्तर**—यह सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय और आत्मा अभेद है; राग का और आत्मा का तो स्वभाव भेद है, सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद है, परिणति स्वभाव में अभेद होकर परिणमी है, आत्मा स्वयं अभेद परिणतिरूप परिणमा है, उसमें भेद नहीं है। व्यवहार - सम्यग्दर्शन जो विकल्परूप है, वह कोई आत्मा के साथ अभेद नहीं है।

# मोक्षमार्ग दो नहीं हैं और न हो सकते हैं

गतांक से आगे

[ श्री रामजी माणिकचंद दोशी ]

९- समयसार के 'मोक्ष अधिकार' में जीव के मोक्ष का उपाय तथा बंध क्या है, यह बताया है। उसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने छठे गुणस्थान में शुद्धता के साथ जो प्रमाद के अंशरूप महाव्रतादि बहिरंग सहकारी कारणरूप 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है, उसके संबंध में क्या कहते हैं, यह जाननेयोग्य विषय होने से यहाँ पर गाथा २९४, २९७, ३००, ३०६ तथा पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका के अनुसार दिया जाता है।

१— प्रथम ही गाथा २९४ में आचार्यदेव कहते हैं:—

'जीव तथा बंध नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) छेदे जाते हैं; प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा छेदे जाने पर वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।'

इस गाथा की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यदेव अपना अनुभव निम्न शब्दों में प्रकट करते हैं:—

यहाँ प्रश्न होता है कि—'आत्मा और बंध जो कि चेत्यचेतक भाव के द्वारा अत्यंत निकटता के कारण (एक जैसे) हो रहे हैं, और भेदविज्ञान के अभाव के कारण, मानो वे एक चेतक ही हों—ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, अर्थात् जिन्हें एक आत्मा के रूप में ही व्यवहार में माना जाता है, उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है ?'

इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहत हैं:—'आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंत:संधि में (अंतरंग की संधि में) प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से (डालने से) उनको छेदा जा सकता है अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।'

'ऐसा होने पर भी उन दोनों (आत्मा और बंध) की अत्यंत निकटता के कारण भेद संभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से (अज्ञानी को) अनादिकाल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।'

२— इसके बाद गाथा २९७ में 'आत्मा का निजभाव और परभाव क्या है,' इसका ज्ञान कराते हैं। उसमें व्यवहारमोक्षमार्ग मुझसे 'पर' है, ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। इस गाथा की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं:—

'नियत स्वलक्षण का अवलंबन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो वह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है, सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जाननेयोग्य) जो ये शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते, इसलिये मुझसे अत्यंत भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है।.....किंतु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) भाव हूँ।'

श्री जयसेनाचार्य की टीका में श्री निश्चयव्यवहार भावों के लिये कहा जाता है—'प्रज्ञा से ग्रहण करनेयोग्य जो चेतयिता, वह निश्चय से मैं हूँ, अवशेष जो भाव हैं, वे मेरे से 'पर' हैं, ऐसा जाननेयोग्य है। जो निश्चय से स्वलक्षण को अवलंबनेवाली प्रज्ञा से प्रविभक्त चेतयिता है, वह मैं हूँ और ये अवशिष्ट जो अन्य स्वलक्षण से लक्ष्य व्यवहियमाण भाव हैं, वे सब भी चेतयिता व्यापक के व्याप्य नहीं होने से मेरे से अत्यंत भिन्न हैं। सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव वह मैं हूँ। चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभागमहिमा शुद्ध चिद् यही मैं हूँ।' (समयसार, रायचंद्र जैन ग्रंथमाला, पृष्ठ २९३-९४)

आचार्यदेवों के अज्ञान की भूमिका का 'व्यवहार' नहीं था। छठे गुणस्थान के योग्य निश्चय और व्यवहार दोनों एक साथ थे। व्यवहारभाव 'आत्मा से अत्यंत भिन्न' होने से संवर-निर्जरा का कारण नहीं हो सकता।

३—गाथा २९८-२९९ में इस बात को दृढ़ करके गाथा ३०० में कहते हैं:—

''सर्वभावों को दूसरे का जानकर कौन ज्ञानी, अपने को शुद्ध जानता हुआ, 'यह मेरा है' ('ये भाव मेरे हैं') ऐसा वचन बोलेगा?''

टीका—''जो पुरुष पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है, और शेष सर्व भावों को दूसरों का जानता है। ऐसा जानता हुआ वह पुरुष परभावों को 'ये मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसंबंध का असंभव है। इसलिये

सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़नेयोग्य हैं—ऐसा सिद्धांत है।''

महामुनियों को भी शुभरागरूप सब व्यवहार 'पर' होने से बंध का ही कारण है, ऐसी बात यहाँ स्पष्ट है।

गाथा २९७ से ३०० तथा उनकी टीका का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचंद्राचार्य और श्री जयसेनाचार्य बारम्बार छठे से सातवें में और सातवें में से छठे गुणस्थान में आते-जाते थे। वे छठे गुणस्थान में प्रमाद जनित भाव २८ मूलगुण आदि को 'व्यवहार' ही समझते थे और उसको 'परभाव' ही जानते हुए आत्मस्वरूप से अत्यंत भिन्न मानते थे। इसलिये वास्तव में 'दो मोक्षमार्ग हैं' ऐसा वे कभी नहीं मानते थे, बल्कि व्यवहारमोक्षमार्गरूप 'परभाव' को माहात्म्य में से निवारते थे। निश्चय-व्यवहार का सुमेल होने से वे अपनी भूमिकानुसार प्रवर्तन करनेवाले ज्ञानी जीव थे।

४— मुनियों के व्यवहारचारित्र का प्रवर्तन भी पंचास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका, पृष्ठ २६७-२६८ में निम्नप्रकार कहा है:—

''परंतु जो, अपुनर्भव (मोक्ष) के लिये नित्य उद्योग करनेवाले महाभाग भगवंत, निश्चय-व्यवहार में से किसी एक का ही अवलंबन न लेने से (केवलनिश्चयावलम्बी या केवलव्यवहारावलम्बी न होने से) अत्यंत मध्यस्थ वर्तते हुए, शुद्धचैतन्यरूप आत्मतत्त्व में विश्रांति के विरचन की ओर अभिमुख (उन्मुख) वर्तते हुए, प्रमाद के उदय का अनुसरण करती हुई वृत्ति का निवर्तन करनेवाली (टालनेवाली) क्रियाकांड परिणति को माहात्म्य में से वारते हुए (-शुभक्रियाकांड परिणति हठरहित सहजरूप से भूमिकानुसार वर्तती होने पर भी अंतरंग में उसे माहात्म्य न देते हुए), अत्यंत उदासीन वर्तते हुए, यथाशक्ति आत्मा को आत्मा से आत्मा में संचेतने (अनुभवते) हुए नित्य-उपयुक्त रहते हैं, वे (महाभाग भगवंत), वास्तव में स्वतत्त्व में विश्रांति के अनुसार क्रमशः कर्म का संन्यास करते हुए (स्वतत्त्व में स्थिरता होती जाये, तदनुसार शुभभावों को छोड़ते हुए), अत्यंत निष्प्रमाद वर्तते हुए, अत्यंत निष्कंपमूर्ति होने से जिन्हें वनस्पति की उपमा दी जाती है, तथापि जिन्होंने कर्मफलानुभूति अत्यंत निरस्त (नष्ट) की है ऐसे, कर्मानुभूति के प्रति निरुत्सुक वर्तते हुए, केवल (मात्र) ज्ञानानुभूति से उत्पन्न हुए तात्त्विक आनंद से अत्यंत भरपूर वर्तते हुए, शीघ्र संसार समुद्र को पार उतरकर,

शब्दब्रह्म के शाश्वत् फल के (-निर्वाणसुख के) भोक्ता होते हैं ॥१७२॥''

मुनिगणों को छट्ठे गुणस्थान में प्रमाद के कारण से महाव्रतादि-पालन का विकल्प था, किंतु वह हेयबुद्धि से होने से वे क्रियाकांड की परिणति को टालकर आत्मतत्त्व में विश्रांति की रचना करके सप्तम गुणस्थान को बारंबार प्राप्त करते रहते थे। व्यवहार तो शुभभाव है, उसको टालना नहीं चाहते थे, किंतु उसमें उदासीन वर्तते हुए आत्मा को आत्मा से आत्मा में संचेतने (अनुभवते) हुए नित्य-उपयुक्त रहते थे।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि दो मोक्षमार्ग नहीं होते हैं, किंतु अपने प्रमाद के कारण मंदकषायरूप अल्प चारित्र-मल हेयबुद्धि से उत्पन्न होता है, उसको (निश्चयपरिणति जो वीतरागभाव है, उसके साथ में) 'व्यवहारमोक्षमार्ग' कहा जाता है। वह निश्चयपरिणति के साथ-साथ होने से 'निमित्त' अर्थात् 'बहिरंग सहकारी कारण' कहने में आता है। इस 'निमित्त' का या 'बहिरंग सहकारी कारण' का विवेचन पीछे आवेगा।

५— 'मोक्ष अधिकार' की गाथा ३०६ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि छट्ठे गुणस्थान की भूमिका में होनेवाले १-प्रतिक्रमण, २- प्रतिसरण, ३-परिहार, ४- धारणा, ५- निवृत्ति, ६-निन्दा, ७-गर्हा, और ८-शुद्धि, ये सब प्रकार के विकल्प (जो व्यवहारमोक्षमार्ग हैं) निश्चयनय की अपेक्षा विषकुम्भ हैं। ऐसी परिस्थिति में दो मोक्षमार्ग नहीं हो सकते। ज्ञानी के जितना रागभाव है, वह आस्रवतत्त्व है, वह सच्चा मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? इस विषय को विवेकीजन नय विभाग से समझ लेवें।

१०—'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' के कलश २४० में आचार्यदेव 'मोक्षमार्ग एक है' ऐसा निम्न शब्दों में कहते हैं:—

**एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-**
**स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।**
**तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्**
**सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥**

**अर्थ**—दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, उसी का निरंतर ध्यान करता है, उसी का अनुभव करता है, और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरंतर विहार करता है; वह पुरुष,

जिसका उदय नित्य रहता है, ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

**भावार्थ—**'निश्चय मोक्षमार्ग' के सेवन से अल्प काल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है ॥२४०॥

श्री परमाध्यात्मतरंगिणी में इस कलश की टीका के निम्न विषय उपयोगी हैं:—

(१) '**एकः**-न त्वनेकधा'=एक, अनेकधा नहीं।

(२) 'सकल कर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा **चेतति**-मुहुर्मुहूरनुभवति।'

(३) '**अचिरात्**-शीघ्रं तद्भवे तृतीयभवादौ वा, **अवश्यं**-नियमतः **समयस्य**-पदार्थस्य सिद्धांत शासनस्य वा, **सारं**-परमात्मानं टंकोत्कीर्णस्वभावं, **विंदति**-लभते।'

**अर्थ—**शीघ्र अर्थात् उसी भव में या तृतीयादि भव में नियम से पदार्थ अथवा सिद्धांतशासन के टंकोत्कीर्णस्वभाव परमात्मा (मोक्ष) को पाते हैं।

यहाँ यह बताया है कि यह कलश वर्तमानकालीन निर्ग्रंथ जैन साधुओं को भी लागू होता है और तीसरे भवादि में नियम से वे मोक्ष पा सकते हैं। 'जीव अष्टम गुणस्थान से ही शुद्धज्ञानचेतनामय हो सकता है और उसके पहिले अल्प भी नहीं', यह कथन आगमानुकूल नहीं है।

तात्पर्य

'पुण्य-पाप अधिकार' के अनेक कलशों में 'तत्त्वदृष्टि से दो मोक्षमार्ग नहीं होते' ऐसा कहा है। जीव को शुभराग की रुचि का इतना बलवानपना है कि वह शुभराग को भी 'मोक्षमार्ग' मानकर दो मोक्षमार्ग मानता है, किंतु यह नितांत असत्य है, ऐसा बारंबार इस अधिकार में जोरदार शब्दों में कहा है। 'जीव-अजीव' तथा अन्य अधिकारों में 'सर्वविशुद्धज्ञान एक मोक्षमार्ग है' ऐसा स्वीकार किया है, अन्यथा-अन्यप्रकार से ही नहीं।

सबसे अंतिम अधिकार 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' के कलश ५२-२४४ की पहली अंतिम पंक्तियों में कहा है—

'अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैः' (पहली पंक्ति)

'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥५२-२४४॥' (दूसरी पंक्ति)

**अर्थ**—(खलु) निश्चय से (समयसारात्) शुद्धजीव के स्वरूप के अनुभव के समान (उत्तरं) द्रव्यक्रिया अथवा सिद्धांत का पढ़ना, लिखना इत्यादि (किंचिन्नास्ति) कुछ नहीं है, अर्थात् **शुद्धजीवस्वरूप का अनुभव ही मोक्षमार्ग सर्वथा है, अन्य समस्त मोक्षमार्ग सर्वथा नहीं है।**

ऐसा मोक्षमार्ग है, इससे अधिक कोई मोक्षमार्ग कहता है, वह बहिरात्मा है, उसे वर्जित करते हैं—'अतिजल्पैः अलं अलं'—बहुत बोलने से बस करो-बस करो। यहाँ दो बार के कहने से अत्यंत वर्जित करते हैं कि चुप रहो-चुप रहो। कैसे हैं अतिजल्प ? 'दुर्विकल्पैः' झूठ से भी झूठ उठती हैं चित्त कल्लोमाला जिनमें, ऐसे हैं। और कैसे हैं ? 'अनल्पैः ॥ शक्तिभेद से अनंत हैं ॥५२-२४४॥ (पांडे राजमलजी के 'कलशटीका' में से, पृष्ठ ५१५-२१६)

# विविध वचनामृत

[यह विभाग स्वामीजी के प्रवचनों में से, शास्त्रों में से तथा रात्रिचर्चा आदि विविध अवसर पर संग्रह कर लिया जाता है।]

(लेखांक ९)

### (१४९) धर्मी जीव

धर्मी जीव अंतर अनुभव से अपने स्वभाव को देखके परम प्रसन्न होता है, चैतन्य के अनुभव की मस्ती में अपने चित्त को और कहीं नहीं लगने देता, वह स्वानुभव के शांतरस में अतितृप्त है, चैतन्य के आनंद की मस्ती में ऐसा मस्त है कि अब अन्य करने का नहीं रहा।

### (१५०) एकत्व में परमसुख

मैं ही ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप हूँ, मैं ही मोक्ष हूँ, मैं ही सुखस्वरूप हूँ, मेरा स्वभाव वर्धमान है, परभावों में मेरा प्रवेश नहीं, मैं मेरे चैतन्यविलासस्वरूप हूँ, चैतन्य में अन्य किसी

की चिन्ता नहीं–ऐसे धर्मी जीव पर से भिन्न अपने एकत्वस्वरूप का चिंतवन करता है, एकत्व चैतन्य के चिंतन में परमसुख है।

### ( १५१ ) आनंद

स्वानुभूति का आनंद ही जगत में सर्वोत्कृष्ट उपादेय है, अत्यंत मधुर जो चैतन्य रस का स्वाद, इस स्वाद जैसा आनंद जगत के अन्य पदार्थ में नहीं, ऐसा आनंद बताकर संत कहते हैं कि आज ही तुम इसका अनुभव करो, ऐसे आनंद का अभी अनुभव करो।

### ( १५२ ) शूरवीर ही मोक्ष को साधते हैं

हे जीव! शूरवीर होकर स्वभाव का वेदन कर—और परभाव को उखाड़, जैसे सिंह गर्जना करे, तब जंगल के पशु भागें; वैसे ही चैतन्यसिंह निजस्वरूप को सम्हाल के निजपुरुषार्थ से जगे, तब परभाव भागें, स्वभाव के स्वाद में परभाव का अभाव है, जो परभाव में अटक के स्वभाव को भूले, वह शूरवीर नहीं; जिसने परभाव को दूर करके स्वभाव में प्रवेश किया, वह ही सुभट है, ऐसा सुभट ही बंधन तोड़ के मुक्ति को साधता है।

### ( १५३ ) विश्राम का धाम

आनंद से भरा आत्मा ही धर्मी का क्रीड़ास्थल है, चैतन्य बाग खिला, वहाँ ही धर्मी जीव केलि करते हैं, जो शाश्वत् प्रकाशित है, ऐसा आत्मा धर्मी के स्वसंवेदन से प्रगट हुआ है। अकंप, सर्वोत्कृष्ट, अतीन्द्रिय और सुख–पूर्ण आत्मा सम्यग्दर्शन होने पर ही अनुभव में आता है, स्वानुभव से प्रगट ऐसा आत्मा ही शांति का धाम है। इसके बिना सब ही अशांतिमय है।

### ( १५४ ) उत्तम वस्तु

तीन लोक में सबसे उत्तम महिमावंत अपनी आत्मा है। उसी को उपादेय जान, यह महासुंदर और सुखस्वरूप है। आत्मा की इतनी महिमा जैसी है, वैसी ही कही है, कोई अधिक नहीं कही, कुछ बढ़ा के महत्ता नहीं कही परंतु साक्षात् जैसी महत्ता है, वही बतलाई है। जगत में सर्वोत्कृष्ट ऐसे आत्मा को तू स्वानुभवगम्य कर, तेरा आत्मा ही तुझे आनंदरूप है, कोई परवस्तु तुझे आनंदरूप नहीं है। आत्मा में ऐसा आनंद जिसने अनुभव किया है, उस धर्मात्मा का चित्त अन्य कहीं नहीं ठहरता, बारंबार आत्मा की ओर जाता है। आत्मा का अस्तित्व जिसमें नहीं, आत्मा का जीवन जिसमें नहीं, उसमें धर्मी का चित्त कैसे जुड़े? निज में जिस आनंद का अनुभव किया है, उस ही में उसका चित्त जुड़ता है।

# शुद्धात्मानुभूति हमको सदा प्रगट हो

[ जैनशासन शुद्धात्मा की अनुभूति में आ जाता है; शुद्ध अनुभूति से जो बाहर है, वह सभी जैनशासन से बाहर है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति बिना जैन शासन के मर्म की खबर नहीं पड़ती। शुद्धात्मा की अनुभूति ही जैनशासन में उपादेय है। यह शुद्धात्म-अनुभूति आनंद से भरी हुई है।]

संत अखंड अनुभूति की और केवलज्ञानप्रकाश की ही भावना करते है।

**अखंडितमनाकुल ज्वलदनन्तमंतर्बहि-**
**र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।**
**चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते**
**यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥**

शुद्ध आत्मा की अनुभूति में उत्कृष्ट चैतन्य ही प्रकाशता है, और ऐसी अनुभूति ही आत्मा का स्वरूप है। इसलिये ऐसी अनुभूति द्वारा अखंड चैतन्य ही हमको सदा प्रकाशमान हो। शुद्धस्वरूप के अनुभव से बाहर दूसरा कोई उपादेय नहीं। ऐसा शुद्ध अनुभव ही उपादेय है, उसी में आत्मा अखंडरूप से प्रकाशित होती है। 'विकल्प' में अखंड आत्मा प्रकाशित नहीं। इन्द्रियज्ञान भी खंड-खंड रूप है, उसमें आत्मा प्रकाशता नहीं, इन्द्रियज्ञान अखंड आत्मा को अनुभव में ले सकता नहीं; वह आकुलता वाला है, वह उपादेय नहीं। जो ज्ञान अंतर में झुककर अतीन्द्रियपना से शुद्ध चैतन्य वस्तु का अनुभव करे, वही उपादेय है। अनुभव में आनेवाला आत्मा अतीन्द्रियस्वभावी है, वह इन्द्रियग्राही होता नहीं। शुद्धनयरूप ज्ञान द्वारा ऐसे आत्मा की अनुभूति 'समस्त जिनशासन' है। उस अनुभूति में जैनशासन है, अनुभूति से पृथक् जैनशासन नहीं; अर्थात् रागादि भाव जैनशासन नहीं; जैनधर्म नहीं, मोक्षमार्ग नहीं। वह परभाव है, अतएव जैनशासन से बाहर, मोक्षमार्ग से बाहर है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति से जो बाहर, वह समस्त जैनशासन से बाह्य ही है।

जिसको शुद्ध आत्मा की अनुभूति नहीं, उसको जैनशासन की खबर नहीं, वह यथार्थ में जैनशासन में आया ही नहीं। जिसने आत्मा की अनुभूति की, उसने समस्त जिनशासन का रहस्य जान लिया और वह मोक्षमार्ग में आया।

आत्मा स्वयं स्वभाविक सुखरूप है; लेकिन स्वयं की अनुभूति वगैर वह इन्द्रियजनित सुख-दु:ख की आकुलता को भोग रहा है। उसको स्वयं की शुद्ध अनुभूति द्वारा सहज-अनाकुल सुख का अनुभव होता है। अनुभव में आता आत्मा अंदर और बाहर सर्वत्र सर्वप्रदेशों में अंदर शक्ति में द्रव्य में तथा व्यक्त पर्याय में ज्ञान और आनंद से ही भरा हुआ है। पर्याय भी आनंद से और ज्ञान से भरी हुई है। असंख्य प्रदेश सर्वत्र आनंद और ज्ञान से परिपूर्ण हैं। असंख्य चैतन्य प्रदेश स्वयं ही ज्ञान और आनंदस्वरूप हैं। सदाकाल ऐसे आत्मा का अनुभव रहा करो-ऐसी धर्मी की भावना है।

जैसे बर्फ का पिण्ड अंदर और बाहर सर्वत्र ठण्डक से भरा हुआ है, वैसे चैतन्य-बर्फ का पिण्ड आत्मा असंख्य प्रदेश में सर्वत्र शांत-शीतल आनंद से भरा हुआ है। द्रव्य में तो आनंद भरा हुआ ही है और जहाँ पर्याय अंतर्मुखी हुई, वहाँ वह पर्याय भी आनंद से भरी हुई है। ऐसी आनंद भरी हुई अनुभूति हमको सदा प्रगट हो।

## साधक का अपूर्व पुरुषार्थ

जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पुरुषार्थ पहिले कभी नहीं किया, उसने अनंत सम्यक् पुरुषार्थ करके पहली ही बार सम्यग्दर्शन प्रगट किया और इसप्रकार संपूर्ण स्वरूप का साधक हुआ ऐसा जीव किसी भी संयोग में, भय से, लज्जा से, लालच से अथवा अन्य किसी भी कारण से असत् को पोषण नहीं ही दे इसलिये, कदाचित् किसी बार शरीर छूटने तक की प्रतिकूलता आ गई हो तो भी सत् से च्युत नहीं होता, असत् का आदर कभी नहीं करता। स्वरूप के साधक नि:शंक और निडर होते हैं। सत् स्वरूप की श्रद्धा के जोर में और सत् के माहात्म्य के कारण उसको कोई प्रतिकूलता है ही नहीं। यदि सत् से जरा भी च्युत हो तो उसको 'प्रतिकूलता आई' कहा जाये, लेकिन जो क्षण-क्षण सत् में विशेष-विशेष दृढ़ता कर रहा है, उसको तो स्वयं के असीमित पुरुषार्थ के कारण जगत में कुछ भी प्रतिकूलता है ही नहीं। उसे तो 'परिपूर्ण सत् स्वरूप' के साथ अभेद हो गया, उसको डिगाने के लिए तीन जगत में कौन समर्थ ? अहो! ऐसे स्वरूप के साधक को धन्य है !!

# मोक्ष और मोक्ष का कारण

## ये दोनों शुद्ध आत्मा की उपासना से ही होता है

[ कलश टीका-प्रवचन ]

हे मोक्षार्थी! मोक्ष के लिये तू तेरे शुद्धात्मा की ही उपासना कर, अर्थात् उसका ही अनुभव कर। जैसे मोक्ष, राग रहित है, वैसे उसका मार्ग भी राग रहित है, उसमें राग का अथवा पर का सहारा जरा भी नहीं। जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, वह मोक्ष को भी वास्तव में पहिचानता नहीं। शुद्धात्मा के अनुभव में जिसने उपादेय जाना है, उसने ही वास्तविक मोक्ष को उपादेय किया है, क्योंकि मोक्ष और मोक्ष का मार्ग तो शुद्धात्मा के सेवन में ही है, यह बात समझाते हैं।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन, द्विधैकः समुपास्यताम्॥

प्रथम तो मोक्षार्थी जीव की बात है। जो मोक्षार्थी है, उसको क्या करना? मोक्ष ही जिसको प्रिय है, मोक्ष ही जिसको उपादेय है, ऐसे जीव को स्वयं का शुद्ध चैतन्यद्रव्य ही सदा अनुभव करना योग्य है, वही सर्वप्रकार उपासनेयोग्य और सेवन करनेयोग्य है। शुद्ध आत्मा के अनुभव से मोक्ष होता है। उसमें कोई दूसरे का सहारा नहीं। शुद्धात्मा को जो उपादेय करे, उसको ही मोक्ष होता है। शुद्ध ज्ञानपुंज आत्मा को जो नहीं पहिचानता, वह शुद्धदशारूप मोक्ष को भी वास्तविकरूप से नहीं पहिचानता। मोक्षमार्ग की उपासना करना हो, तो हे जीवो! शुद्ध आत्मा की ही सम्यक्प्रकार उपासना करो। उसकी उपासना से साधकपना और सिद्धपना दोनों होता है।

रागरहित ऐसी जो मोक्षदशा, वह राग के सेवन से कैसे हो? राग को जो मोक्षदशा का साधन मानता है, उसने रागरहित मोक्षदशा को पहिचाना ही नहीं। मोक्ष रागरहित है, तो उसका साधन भी रागरहित ही होना चाहिये। आत्मा का जो शुद्धस्वभाव, उसकी रागरहित उपासना ही मोक्ष का साधन है। मोक्ष रागरहित शुद्धदशा, और उसका साधन भी रागरहित शुद्धदशा, ये दोनों दशा शुद्ध आत्मस्वभाव को उपादेय करके उसकी उपासना से ही होती हैं। इसप्रकार आत्मा स्वयं स्वयं में ही साधक और साध्य-भावरूप से परिणत होती है। उसे मोक्ष के लिये दूसरे

किसी भी द्रव्य के सहारे की जरूरत नहीं। शुद्धात्मा को अनुभव करने से मोक्षमार्ग और मोक्ष दोनों हो जाते हैं।

भाई! मोक्ष का कारण तेरे में ही है, कहीं बाहर न ढूँढ़। अंतर्मुख अनुभव द्वारा यह आत्मा स्वयं ही मोक्षमार्गरूप परिणमनकर मोक्ष का कारण होता है। आत्मा से भिन्न किसी दूसरे को तू मोक्ष का कारण बनायेगा, तो मोक्ष का सच्चा साधन तुझे नहीं मिलेगा। मोक्ष के उपाय में परद्रव्य का किंचित् भी सहारा नहीं। इसलिये हे मोक्षार्थी! स्वसन्मुख होकर आत्मा को ही अनुभव कर।

आत्मा कैसा है? दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अभेद से एकरूप अनुभवते वह शुद्ध है; लेकिन दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से लक्ष्य में लेते वक्त उसमें अशुद्धता का अनुभव होता है। अभेद के अनुभव से ही द्रव्य के सहज स्वभाव का अनुभव होता है। प्रमाण से देखने पर आत्मा में अशुद्धता और शुद्धता (अथवा भेद और अभेद) दोनों एक साथ हैं। तो भी शुद्धता का अनुभव तो अभेद के आश्रय से ही होता है और स्वयं में व्यवहार से जो भेद है, उसके आश्रय से अशुद्धता का अनुभव होता है, तो फिर 'पर' के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही?

आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन गुणरूप परिणमता है, अर्थात् एक अखंड आत्मा को गुणभेद से देखा जाये तो उसमें गुणभेद भी दिखते हैं। यह भेद का देखना व्यवहार है, और परमार्थ से आत्मा निर्विकल्प-सर्व भेद रहित एकाकार वस्तु है। वह स्वानुभव में व्यक्त है, और सर्व विभाव को मेटनशील है, वस्तु में विभाव का जरा भी ग्रहण-त्याग कभी भी नहीं है अर्थात् इसका निजस्वभाव परमशुद्ध है, उसमें कोई विभाव नहीं, उसके अनुभव से समस्त विभाव मिट जाते हैं, उत्पन्न ही नहीं होते।-ऐसे आत्मा के अनुभव से ही साध्य की सिद्धि होती है।

आत्मा शुद्ध है। क्यों शुद्ध है? सर्वरागादि विभाव मिटाना उसका स्वभाव है, उसके अनुभव से सर्व रागादि मिट जाते हैं, इससे उसका स्वभाव शुद्ध है। देखो, इसके अनुभव से शुद्धता होती है और अशुद्धता मिटती है, इसलिये इसका स्वभाव शुद्ध है और विभाव को मिटानेवाला है। रागादि अशुद्ध हैं, क्योंकि उनके अनुभव से अशुद्धता होती है। विभाव कैसे मिटे? जिसमें जरा भी विभाव नहीं, ऐसे शुद्धस्वभाव के अनुभव द्वारा विभाव मिटे। 'विकार का नाश करे' ऐसा स्वभाव तो त्रिकाल है ही, लेकिन उसके सन्मुख होकर उसका अनुभव करे, तब अशुद्धता टले अर्थात् उत्पन्न ही न हो।

आत्मा का स्वभाव किसी से बंध हो, ऐसा नहीं; सबसे छूटने का ही स्वभाव है। नित्य

स्वभाव तो सर्व विभावों से छूटा है और उसके अनुभव से पर्याय में शुद्धि होकर विभाव छूटता है। इसलिये आत्मा संबंधी अनेक विकल्पों से बस हो, निश्चय से शुद्ध हूँ और व्यवहार से अशुद्ध हूँ, अथवा मेरा स्वभाव शुद्ध है और अशुद्धता मेरे स्वभाव में नहीं, ऐसे अनेक विकल्पों से 'अलम' अर्थात् बस होओ, इन विकल्पों द्वारा कुछ सिद्धि नहीं, शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा ही साध्य की सिद्धि होती है। इसलिये विकल्प से पार शुद्ध वस्तु को प्रत्यक्ष आस्वाद में लो।

शुद्ध स्वरूप का अवलोकन, उसका प्रत्यक्ष संवेदन और उसमें लीनता-इसी के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है और किसी दूसरे प्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं होती। साध्य अर्थात् 'आत्मा की पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा'—उसका साधन भी शुद्ध ही हो। विकल्प इसका साधन नहीं। इसलिये कहते हैं कि हे मोक्षार्थी! मोक्ष के लिये तू अपने शुद्धात्मा की ही उपासना कर, अर्थात् उसका ही अनुभव कर। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग शुद्धात्मा के सेवन में ही समाविष्ट होता है। ●

## जुदा... जुदा... और जुदा

आत्मा सदा अमूर्तिक, चैतन्यमूर्ति है, उससे यह जड़-पुद्गलमय देह भिन्न है। चैतन्यमूर्ति आत्मा से यह अचेतन देह जुदा ही था, जुदा ही है, और जुदा ही रहेगा। जुदा... जुदा... और जुदा! तीनों काल जुदा (भिन्न)! चेतन और जड़ पदार्थ का एकमेकपना कभी है ही नहीं, दोनों स्पष्टतया तीनों काल भिन्न ही हैं। अरे जीव! 'जड़ से भिन्न मेरा चेतनस्वरूप है,' ऐसी भिन्नता का ज्ञान (निर्णय) तो कर। जीवन में यदि ऐसी भिन्नता का बोध किया होगा, तभी देह के वियोग के समय अविनाशी चैतन्य के लक्ष्य से समाधि-जागृति रहेगी। जिसे जड़ की और मिथ्यात्वादि आस्रव की आत्मा से भिन्नता का भान नहीं है—'स्वरूप के आश्रय से ही कल्याण है-पर से जरा भी कल्याण नहीं,' इसप्रकार जड़ से भिन्नत्व का जिसे भान नहीं है, वह तो देह में और राग में एकत्वबुद्धि के द्वारा महा मूर्छित होकर दब जायेगा। भैया! 'जड़ से और शुभाशुभ विकार से मैं जुदा नित्य चैतन्यमूर्ति हूँ'—ऐसा भान करके जीवन में उस तत्त्व की भावना तो कर-इस स्व से पर की भिन्नता की भावना द्वारा (-आत्मा में एकत्व के बल से) अतीन्द्रिय आनंद में मशगूल होकर तुझे उत्तम समाधि मरण होगा।

*(नियमसार, गाथा ९२ के प्रवचन में से)*

# शुद्ध चैतन्य को अंतर में देखो

**अनादि से अज्ञानजन्य विकल्पजाल में ढकी हुई 'शुद्ध चैतन्य वस्तु' को परभावों से अत्यंत जुदी बतलाकर संत कहते हैं कि अरे जीवों! अपनी इस चैतन्य वस्तु को हमेशा परभावों से अत्यंत भिन्नरूप में अनुभवो। अरे जीव! एक क्षण तू भी विकल्प बिना नहीं रह सकता। एक बार तो विकल्प से जुदा होकर अपनी स्ववस्तु को देख.... तुझे कोई अपूर्व आनंद होगा। इस स्वानुभव दशा का सरस वर्णन कर यहाँ उसकी प्रेरणा करते हैं।**

[ कलश टीका-प्रवचन ]

**चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,**
**कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।**
**अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं;**
**प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानस् ॥८॥**

जिसको दृष्टि में लेते अपूर्व चैतन्यनिधान दिखे, ऐसी वस्तु अपने में ही है, उसको सर्वथा अनुभवो। 'दृश्यताम्' का अर्थ अनुभवरूप करो, ऐसा किया। हमको ऐसी शुद्ध ज्योतिरूप आत्मवस्तु ही संपूर्ण अनुभव में हो। आचार्यदेव को साधकदशा तो शुद्धात्मा के अनुभव से हुई है, और उसकी ही पूर्णता की भावना भाते हैं।

जैसे नाटक में एक ही मनुष्य जुदे-जुदे अनेक भाव दिखाता है, उसीप्रकार इस 'समयसार नाटक' में एक जीववस्तु, जुदे-जुदे आश्चर्यकारी अनेक भावों के रूप में दिखती है। कभी शुद्धरूप, कभी अशुद्धरूप-ऐसे अनेक भिन्न-भिन्न भावरूप में एक ही जीव वस्तु परिणमती दिखती है, यह जानते हुए आश्चर्य उत्पन्न होता है। उन सब भावों में एकरूप से रहनेवाली शुद्ध जीववस्तु को सम्यग्दृष्टि पहिचान लेता है। अनेकपने को देखते हुए 'जीववस्तु' के सच्चे स्वरूप का दर्शन (सम्यग्दर्शन) होता नहीं। एकरूप में रहनेवाले ऐसे शुद्ध स्वरूप को देखने पर 'जीववस्तु' का सच्चा स्वरूप दिखता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है।

अरे, तेरा ऐसा शुद्धतत्त्व। उसको अमर्यादित काल से तूने नव तत्त्व के विकल्प जाल में ढंक दिया। विकल्प के अनुभव में ही तू उलझा, लेकिन विकल्प से बाहर निकलकर अपनी चैतन्य वस्तु को उसके एक स्वरूप में तूने अनुभव में नहीं ली। तूने ही अपनी वस्तु को मिथ्या

विकल्प जाल से ढंक दी। लेकिन अब हमने तुझे विकल्पजाल में से बाहर निकालकर शुद्ध चैतन्यवस्तु को अपने सर्वगुण पर्यायों में प्रकाशमान तू देख। 'दृश्यताम' अर्थात् अंतर्दृष्टि द्वारा उसको अनुभवरूप कर। देखने का अर्थ ही 'अनुभव' कहा।

नव तत्त्व का विकल्पजाल अर्थात् रागादि विभावों के साथ एकत्वरूप परिणमन, वह भी है तो जीव के ही अस्तित्व में; रागादि परिणाम कुछ जड़ वस्तु में नहीं होते। इस प्रकार सुवर्ण पाषाण की जैसी आत्मा विकारदशारूप अनादि से चली आ रही है; स्वयं अपने आप ऐसी विभावदशारूप परिणम रही है। इसलिये वह भी अनित्य संतान-प्रवाह में अस्तिरूप है, वह सर्वथा झूठ नहीं-यह तो पर्याय का ज्ञान कराकर एक पक्ष बतलाया है।

अब दूसरा पक्ष दिखलाते हैं। पर्याय में अनादि से अशुद्धता होने पर भी 'शुद्ध जीववस्तु' की दृष्टि से देखो, तो वह वस्तु सदा एकरूप है, सदा विभाव से विभक्त है। 'शुद्ध जीववस्तु' प्रति पर्याय में सदा प्रकाशमान है। उसको परभाव से भिन्नरूप से देखो। 'विकल्प' अनादि का है, वह कुछ शुद्ध वस्तु में घुस नहीं गया। अनादि से परवस्तु बिना ही (पर के अभाव में ही) आत्मा रहा है। अज्ञानी ने अनादि से शुभाशुभ विकल्प के बिना एक क्षण भी न चलाया, न रहा किंतु वह विकल्प को ही अनुभव में करता रहा। जब त्रैकालिक अभूल-अकषाय के लक्ष्य द्वारा भेदज्ञान के बल से बलवान बने अर्थात् सब रागादि पराश्रय से जुदा होकर संयोग और विकल्प से रहित ऐसी शुद्ध जीववस्तु को प्रतीति में लेने पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन को परवस्तु बिना ही चलता है और शुभाशुभराग के बिना भी चलता है। किंतु स्वयं की जीववस्तु के बिना और स्वाश्रय के बिना सम्यग्दर्शन एक क्षण भी टिक नहीं सकता।

देखो, यह भगवान के बड़े धर्मदरबार में-समवसरण में-दिव्यध्वनि से 'चैतन्यवस्तु' खुली करके भगवान ने बतलाई है। और सम्यग्दृष्टि जीवों ने उसे ग्रहण कर प्रगट की है। अरे, ऐसी 'शुद्ध चैतन्य वस्तु आत्म ज्योति' सदा प्रकाशमान है, किंतु विकल्पों के धुआं की ओट में अज्ञानी को वह दिखती नहीं। जो अकेले धुआं-जैसे विकल्प को देखे-अनुभव करे, उसे शुद्ध चैतन्य के आनंदरूप हलुवा कहाँ से दिखे? उसे उसका स्वाद कहाँ से आये? भाई, हमने तेरी चैतन्यवस्तु को खुली करके बतलाई है, उसको तू देख। विभाव के समय भी तेरी 'जीववस्तु' एकस्वरूप प्रकाशमान है, वह कुछ नाश नहीं हुई।

देखो, दोनों पक्ष बतलाकर, शुद्ध जीव वस्तु के अनुभव करने को कहा, और दो पहलू

कहे। (१) पर्याय में नवीन विकल्परूप 'विभाव परिणमन' (२) विकल्प से पार शुद्ध एकरूप 'जीववस्तु'।

इन दोनों को जानकर 'ज्ञान' विकल्प से जुदा होकर शुद्ध जीववस्तु का अनुभव करता है, वही सम्यक्त्व और मोक्षमार्ग है। अकेले विकल्प को जानकर उसके ही अनुभव में जो ज्ञान अटक जाता है, वह ज्ञान 'शुद्ध जीव वस्तु' को नहीं जान सकता। उसका ज्ञान 'एकांत' है, सम्यग्ज्ञान नहीं।

'शुद्ध जीव वस्तु' को जाननेवाला ज्ञान विकल्प के अनुभव में अटकता नहीं, वह तो विकल्प के समय उससे पार 'शुद्ध जीव वस्तु' को प्रकाशमान देखता है–यही सम्यग्दर्शन है।

पर्याय में रागादि विकल्प हैं, नौ तत्त्व के विकल्प हैं, लेकिन विकल्प के अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन कभी होता नहीं। सम्यग्दर्शन तो शुद्ध आत्मवस्तु के अनुभवरूप है। अजीव वस्तु देह–मन–वाणी वगैरह का तो जीव में अस्तित्व ही नहीं, अर्थात् उसकी तो बात ही क्या? यहाँ तो जीव की पर्याय में जिसका अस्तित्व है, ऐसा विकल्प भी शुद्ध आत्मा के अनुभव से बाहर है, ऐसा बतलाया है। दोनों पक्ष जानकर शुद्धस्वभाव की ओर झुकना और उसको अनुभव में लेना, यह मोक्षमार्ग है। 'चेतना लक्षणवाला जीव है' ऐसा गुणभेद का विकल्प भी शुद्धवस्तु के अनुभव में नहीं होता। शुद्धवस्तु का 'अनुभव' निर्विकल्प है, उसकी 'प्रतीति' निर्विकल्प है, उसका 'ज्ञान' भी विकल्प से जुदा अर्थात् निर्विकल्प है। जितने सविकल्प भाव हैं, वे स्वानुभव में नहीं आते, अर्थात् वे मोक्षमार्गरूप नहीं होते। इसलिये हे जीवों! शुद्ध जीववस्तु को प्रति समय प्रत्येक पर्याय में विकल्प से भिन्न अनुभव करो।

अनादिकाल से पहिले जिसका अनुभव किया नहीं, ऐसे शुद्ध आत्मा के अनुभव की यह बात है। जीव ने अज्ञानभाव से अनादि से विकल्प का ही अनुभव किया है। स्वयं की शुद्धवस्तु जैसी है, वैसी विकल्प बिना उसको कभी अनुभव में नहीं ली। ऐसे अनुभव बिना सम्यक्त्व होता नहीं। वह अनुभव कैसे हो, उसकी यह बात है। शुद्धवस्तु ऐसी नहीं कि विकल्प में वह आ जाये। ऐसी शुद्धवस्तु को स्वसन्मुखपने के अभ्यास द्वारा अनुभव कर परमात्मपद का साधन करनेवाले जीव भी जगत में अनादि से होते आये हैं। शुद्धवस्तु का स्वानुभव करके उसकी रीति संतों ने बतलाई है; विकल्पजाल में से शुद्ध चैतन्यवस्तु को बाहर निकालकर जुदी बतलाई है। जैसे सुवर्णपाषाण में यदि सुवर्ण को देखो तो पत्थर से जुदा सोना

है, वैसे ही नवतत्त्वों में विकल्प को न देखते हुए शुद्ध दृष्टि से देखो तो आत्मा विकल्प रहित शुद्ध चैतन्यपने से प्रकाशमान है।

इस ही प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवता में भी शुद्धदृष्टि से एकरूप शुद्ध आत्मा ही प्रकाशमान है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्मा में नहीं है, ऐसा नहीं, परंतु उसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेद के विकल्प में रुकने पर शुद्धवस्तु की अनुभूति होती नहीं। शुद्धवस्तु की अनुभूति के समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के विकल्प होते नहीं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो होता है लेकिन उसके विकल्प नहीं होते; जैसे स्वानुभव के समय जीव को संवर-निर्जरारूप परिणमन तो है, लेकिन संवर-निर्जरा के 'विकल्प' नहीं। इसप्रकार स्वानुभव से वस्तु को देखने पर समस्त भेद-विकल्प झूठे हैं-असत् हैं।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रसंग में कोई विकल्प होता ही नहीं। वहाँ तो शुद्धवस्तु की स्वानुभूति ही है। भाई, ऐसी वस्तु तेरे अंतर में विद्यमान है। इस विद्यमान वस्तु के अनुभव में विकल्प का प्रवेश नहीं, अर्थात् उसका अविद्यमानपना है।

निर्मल अवस्था के उत्पाद-व्यय को वस्तु में से निकाला नहीं जा सकता, वह तो वस्तु का स्वरूप ही है; लेकिन उस वस्तु के 'उत्पाद-व्यय' ऐसे भेद करने पर एकरूप वस्तु अनुभव में नहीं आती, विकल्प मिटता नहीं, इसलिये कहते हैं कि भेद को देखने से शुद्ध आत्मानुभवनरूप सम्यग्दर्शन होता नहीं। शुद्ध वस्तु को अभेदपने से उसमें एकाग्र होकर देखते ही सम्यग्दर्शन होता है। एक बार स्वानुभव से ऐसी प्रतीति हुई, फिर सविकल्प समय भी प्रतीति हटती नहीं। वह मोक्षमार्ग में अभेद स्वानुभव द्वारा आगे बढ़ती है, और केवलज्ञान होता है।

नवतत्त्व के विकल्प, द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ऐसे तीन के विकल्प, और गुण-गुणीरूप दो के विकल्प द्वारा भी तथा मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे एक के विकल्प द्वारा भी स्वानुभूति अथवा सम्यग्दर्शन होता नहीं। समस्त विकल्पों से जुदी ही ज्ञानज्योति प्रकाशती है, वही स्वानुभूति है। स्वानुभव बगैर अज्ञानी जीव नवतत्त्व के विकल्प में छिपी हुई इस ज्ञान ज्योति को खोज नहीं सकता। विकल्प जाल में तन्मय होकर स्वयं ने स्वयं के शुद्ध स्वरूप को छिपा दिया था-ढंक दिया था, उसको यहाँ खुला करके संतों ने दिखलाया है। 'वाह! सरस सरस यह ग्रंथ!' स्वानुभव का मार्ग इस ग्रंथ में प्रगट किया है। 'समयसार' अर्थात् सार में-सार वस्तु। इसका मंथन कर अमृतचंद्राचार्य ने टीका और कलश रचे। उन कलशों के

भी अध्यात्म भावों को खोलकर इस 'कलश टीका' में अकेला सार भर दिया है... अकेले शुद्धात्मा के अनुभव का अध्यात्म रस घोंटा है। यह 'समयसार' अर्थात् भरतक्षेत्र का भगवान... और इसका वाच्य 'भगवान समयसार' अंतर में है।

'चेतना' जिसका लक्षण है, उस आत्मा का ऐसे लक्षण द्वारा अनुमान होता है, लेकिन प्रत्यक्ष अनुभव होता नहीं। शुद्धात्मा के प्रत्यक्ष अनुभव में तो 'लक्षण' का भी विकल्प नहीं। अनुभव वस्तु जुदी है और विकल्प वस्तु जुदी है। 'ज्ञान, वह आत्मा' इतना भी विकल्प स्वानुभव में समाविष्ट नहीं होता। स्वानुभव में अखंड शुद्ध आत्मा आता है, लेकिन विकल्प का एक कण भी इसमें नहीं आता। चौथे गुणस्थान में, सम्यक्त्व में ऐसी वस्तु अनुभव में आ जाती है, और तब ही मोक्षमार्ग की धारा शुरु हो जाती है।

श्री उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं — 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'

यहाँ कहते हैं कि स्वानुभव में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के विकल्प भी असत् हैं।

दोनों में कुछ विरुद्धता नहीं। वहाँ प्रमाण वस्तु का ज्ञान कराया है; और यहाँ ज्ञानपूर्वक शुद्ध वस्तु-स्वभाव के अनुभव की बात है। आत्मा का अनुभव कैसे हो, उसकी यह बात है। ऐसा अनुभव करना, वह सिद्धांत का सार है, वही आत्मा का हित है।●

## और ठौर क्यों हेरत प्यारा

[रचयिता - कविवर श्री बुधजनजी]

और ठौर क्यों हेरत प्यारा, तेरे हि घट में जानन हारा ॥और० ॥
चलन हलन थल वास एकता, जात्यान्तरतैं न्यारा न्यारा ॥और० ॥
मोह उदय रागी द्वेषी ह्वै, क्रोधादिक का सरजनहारा।
भ्रमत फिरत चारों गति भीतर, जनम जनम भोगत दुख भारा ॥और०१ ॥
गुरु उपदेश लखै पद आपा, तबहिं विभाव करे परिहारा।
ह्वै एकाकी बुधजन निश्चल, पावै शिवपुर सुखद अपारा ॥और०२ ॥

# निर्विकल्प-स्वानुभूति होने का सुंदर वर्णन

## स्वरूप के चिंतन में आनंद-तरंग उठती है

**[ मुमुक्षु के लिये अत्यंत उपयोगी सुंदर लेख ]**

सम्यग्दृष्टि शुभाशुभ परिणाम में वर्तता हो, तब भी उसको शुद्धात्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन लगातार टिका रहता है, यह गतांक के लेख में बतलाया है। अब सम्यग्दृष्टि भी कभी-कभी स्वरूप का ध्यान करता है; वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा 'निर्विकल्प आत्मध्यान' किसप्रकार करता है तथा स्वरूप का चिंतन किसप्रकार करता है, स्वरूप का चिंतन करने से क्या होता है, और जिज्ञासु को भी स्वरूप के ध्यान के लिये कैसा उद्यम और कैसी पूर्व विचारणा होनी चाहिये-उस संबंधी यह लेख प्रत्येक मुमुक्षु को मननीय है।

सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूप ध्यान करने का उद्यमी होता है। वहाँ प्रथम 'स्व-पर स्वरूप का भेदविज्ञान' करे। नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्मरहित चैतन्य-चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने, फिर 'पर' का विचार भी छूट जाये और केवल स्वात्म विचार ही रह जाये; तब निज स्वरूप में अनेक प्रकार की अहंबुद्धि धारण करता है : 'मैं चिदानंद हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ,' इत्यादि विचार होते सहज ही आनंद तरंग उठती है, रोमांच होता है। इसके बाद ऐसे विचार भी छूट जावें और स्वरूप केवल 'चिन्मात्र' भासित होने लगे, तब सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र हो प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादिक के वा नय-प्रमाणादि के विचार भी विलीन हो जाते हैं। सविकल्प-चैतन्यस्वरूप द्वारा जो निश्चय किया था, उसमें ही व्याप्य-व्यापकरूप होकर ऐसा प्रवर्तता है कि वहाँ ध्याता-ध्येयपना भी दूर हो जाता है। ऐसी दशा का नाम 'निर्विकल्प अनुभव' है।

देखो, यह स्वानुभव की अलौकिक चर्चा। यहाँ तो एक बार जिसको स्वानुभव हुआ हो और फिर से वह स्वानुभव करे, उसकी बात है; परंतु प्रथम बार जो 'निर्विकल्प स्वानुभव' का

उद्यम करता है, वह भी इसीप्रकार भेदज्ञान और स्वरूप चिंतन के अभ्यास द्वारा परिणाम को निज स्वरूप में तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा स्वयं अपने में व्याप्य-व्यापकपने से ऐसा तल्लीन प्रवर्तता है, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी एकता होती है कि ध्याता-ध्येय के भेद भी उसमें रहते नहीं; आत्मा स्वयं अपने में लीन होकर स्वयं का स्वानुभव करती है। स्वानुभव के परम आनंद का 'अनुभव' होता है, उसका 'विकल्प' नहीं। एक बार ऐसा 'निर्विकल्प अनुभव' जिसको हुआ हो, उसको ही निश्चय सम्यक्त्व जानना। यह अनुभव की रीति यहाँ बतलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि किसप्रकार निर्विकल्प अनुभव करते हैं, यह बतलाया है। उसके उदाहरण से—प्रमाण से दूसरे जीवों को भी निर्विकल्प अनुभव करने का यही उपाय है-ऐसा समझ लेना।

सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभराग के समय सविकल्पदशा में सम्यक्त्व किसप्रकार वर्तता होता है, यह समझाया। अब कहते हैं कि 'वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है'। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को बारम्बार स्वरूप-ध्यान नहीं होता, लेकिन कभी शुभाशुभ प्रवृत्ति से दूर हो, शांत परिणाम द्वारा स्वरूप का ध्यान करने का उद्यम करता है। जिस स्वरूप का अपूर्व स्वाद स्वानुभव में चखा है, उसको पुनः-पुनः अनुभव करने के लिये वह उद्यम करता है। तब प्रथम तो स्व-पर के स्वरूप का भेदविज्ञान करे, अर्थात् पहिले जो भेदविज्ञान किया है, उसको पुनः चिंतन में ले, ये स्थूल जड़ देहादि तो मेरे से स्पष्ट भिन्न हैं, उनके कारणरूप अंदर का सूक्ष्म 'द्रव्यकर्म' वह भी आत्मस्वयप से अत्यंत जुदा है, दोनों की जाति ही जुदी है; 'मैं चैतन्य और यह जड़, मैं परमात्मा और यह परमाणु,' ऐसे दोनों की भिन्नता है, और भिन्न होने से वह द्रव्यकर्म मेरा कुछ करता नहीं। अब अंदर आत्मा की पर्याय में पैदा होनेवाले जो राग-द्वेष-क्रोधादि भावकर्म, उससे भी मेरा स्वरूप अत्यंत जुदा है; मेरे ज्ञानस्वरूप की और इन रागादि परभावों की जाति ही जुदी है; राग का वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञान का वेदन शांतिमय है। इस तरह अनेक प्रकार से द्रव्यकर्म-नोकर्म और भावकर्म से स्वयं के स्वरूप की भिन्नता को चिंतन करे। यह सबसे भिन्न 'चैतन्य चमत्कार मात्र ही' मैं हूँ—ऐसा विचा करे। देखो, ऐसे वस्तुस्वरूप के निर्णय में ही जिसकी भूल हो, उसको तो स्वरूप के ध्यान का सत्य उद्यम ही नहीं होगा, क्योंकि जिसका ध्यान करना है, उसको पहिले

पहिचानना तो चाहिये न! पहिचान बिना ध्यान किसका? इसतरह स्व-पर की भिन्नता के विचार से परिणाम को जरा स्थिर करे, फिर पर के विचार छूटकर केवल निजस्वरूप के ही विचार रहें। जो स्वरूप पहिले अनुभव में लिया है, उसकी अत्यंत महिमा ला-लाकर उसके विचार में मन को एकाग्र करता है। परद्रव्यों में से और परभावों में से तो अहंबुद्धि छोड़ी है और निज स्वरूप को ही स्वयं का जानकर उसमें ही अहंबुद्धि की है। 'मैं चिदानंद हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सहज सुखस्वरूप हूँ, अनंत शक्ति का निधान हूँ, सर्वज्ञस्वभावी हूँ' इत्यादि प्रकार से स्वयं के निज स्वरूप में ही अहंबुद्धि कर-करके उसी की चिंतन करता है। 'नियमसार' में प्रभु कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

**केवल्यदर्शन-ज्ञान-सुख केवल्यशक्ति स्वभाव जो।**
**मैं हूँ वही यह चिंतवन होता निरंतर ज्ञानि को॥९६॥**
**निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहि।**
**देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिंतन यही॥९७॥**

**अर्थ**—केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी, सुखमय और केवलशक्तिस्वभावी वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानी चिंतवन करता है॥९६॥ 'जो निजभावको छोड़ता नहीं, तथा परभाव को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ-ऐसा ज्ञानी चिंतवन करता है। यहाँ परम भावना के सन्मुख ऐसे ज्ञानी को शिक्षा दी है।

ऐसे निज आत्मा की भावना करने की मुमुक्षु को सीख दी है और कहा है कि ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी ही निजात्म भावना से प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन हुये पीछे, तथा सम्यग्दर्शन करने के लिये भी ऐसी ही भावना और ऐसा चिंतन करना योग्य है। 'सहज शुद्धात्मा की अनुभूति-इतना ही मैं हूँ, अपने स्वसंवेदन में आता हूँ, यही मैं हूँ'—ऐसे सम्यक् चिंतन में सहज ही आनंद तरंग उठती है।

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के रस का कितना घोलन किया जाता है! ऊपर कहा वहाँ तक तो अभी सविकल्प दशा है। इस चिंतन में 'आनंद तरंग उठती है' वह अभी निर्विकल्प अनुभूति का आनंद नहीं, किंतु स्वभाव तरफ के उल्लास का आनंद है, शांत परिणाम का आनंद है; और उसमें स्वभाव तरफ के अतिशय प्रेम के लिये रोमांच होता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभाव तरफ का विशेष उत्साह; जैसे संसार में भय का या

आनन्द का कोई विशिष्ट खास प्रसंग बनने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, उसको 'रोमांच हुआ' ऐसा कहा जाता है, वैसा यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव के खास प्रसंग में धर्मी को आत्मा के असंख्य प्रदेश में स्वभाव के अपूर्व उल्लास का रोमांच होता है। बाद में चैतन्य स्वभाव के रस की उग्रता द्वारा यह विचार (विकल्प) भी छूट जाता है, और परिणाम अन्तर्मग्न होने पर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासित होने लगता है, अर्थात् सारे परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं। जब उपयोग स्वानुभव में प्रवर्तता है, तब निर्विकल्प आनंददशा अनुभव में आती है। वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी या नय प्रमाण वगैरह संबंधी कोई विचार होता नहीं, सर्व विकल्प विलय हो जाते हैं। यहाँ स्वरूप में ही व्याप्य-व्यापकता है, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों एकमेक-एकाकार अभेदपने से अनुभव में आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय, स्वरूप में व्याप्त हो गयी है, जुदी रही नहीं। 'परभाव' अनुभव से बाहर रह गये, लेकिन 'निर्मल पर्याय' तो अनुभूति के साथ स्वरूप में मग्न हो गई।

पहिले विचार-दशा में ज्ञान ने जो 'स्वरूप' लक्ष्य में लिया था, उस स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया, और बीच का 'विकल्प' निकल गया, अकेला ज्ञान रह गया, अर्थात् अतीन्द्रिय निर्विकल्प अनुभूति हुई, परम आनंद हुआ। ऐसी अनुभूति में प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि सब धर्म समा जाते हैं।

इस अनुभूति को ही 'जैनशासन' कहा है; यही वीतराग मार्ग है, यही जैनधर्म है, यही श्रुत का सार है। संतों की और आगम की यही आज्ञा है। शुद्धात्म-अनुभूति की अपार महिमा है, उसको कहाँ तक कहें ? स्वयं अनुभूति ही जो करे, उसे उसकी खबर पड़े।

यह किसकी बात है ? गृहस्थ सम्यक्त्वी की बात है, जो अभी घर-कुटुम्ब-परिवार के बीच रहा है, व्यापार-धन्धा-रसोई वगैरह के भाव आते हैं, फिर भी भेदज्ञान के बल से इन सबसे भिन्न ऐसे शुद्धात्मा को भी जानता रहता है। वह जीव उद्यम द्वारा बाहर के परिणाम को वापिस खींचकर, उपयोग को निजस्वरूप में जोड़ता है और निर्विकल्प अनुभव करता है। ऐसा अनुभव चारों गति के जीवों को (तिर्यंच और नारकी को भी) हो सकता है। पहिले जिसने सत्य तत्त्वनिर्णय किया हो, वीतरागी-गुरु-धर्म की पहिचान की हो, नवतत्त्वों में विपरीतता दूर की हो, पर्याय में आस्रव-बंधरूप विकार होता है, शुद्धद्रव्य के आश्रय से इसे टालकर शुद्धात्म अनुभूति से संवर-निर्जरारूप शुद्धदशा प्रगटायी हो-उसे अनेकांत द्वारा द्रव्य-पर्यायों के सब

पक्षों के ज्ञानपूर्वक 'शुद्ध अनुभव' होता है। दूसरे लोग जो शुद्ध अनुभव की बात करते हैं, उसमें और जैन के शुद्ध अनुभव में बड़ा अंतर (फर्क) है; दूसरे लोग तो 'पर्याय में अशुद्धता थी और फिर बाद में शुद्धता हुई' इसके स्वीकार किये बिना एकांत शुद्धता ही की बात करते हैं, लेकिन ऐसा शुद्धपर्याय बिना का शुद्ध अनुभव होता नहीं। जैन का 'शुद्ध अनुभव' तो शुद्ध पर्याय के स्वीकार सहित है। 'पहिले अशुद्धता थी, वह टलकर शुद्ध पर्याय होती है,' उसकी प्राप्ति नहीं की, उसके प्रति प्रश्न है कि शुद्धता का अनुभव किया किसने? और इस अनुभव का फल किसमें आया? द्रव्य और पर्याय इन दोनों के स्वीकाररूप अनेकांत बिना अनुभव और अनुभव का फल, यह कुछ बन सकता नहीं। 'पर्याय' अंतर्मुख होकर जब शुद्ध स्वभाव का आराधन-सेवन-ध्यान करे, तब ही 'शुद्ध अनुभव' होता है।

यह शुद्ध अनुभव अर्थात् 'निर्विकल्प अनुभव' क्या चीज़ है और कैसी यह अंतरदशा है। यह जिज्ञासु को लक्षगत करना चाहिये। अहा, निर्विकल्प अनुभव के पूरे कथन करने की वाणी की शक्ति नहीं; ज्ञान में उसको जानने की शक्ति है। वह अंदर वेदन में आता है, लेकिन वाणी में यह पूरा आता नहीं; ज्ञानी की भी वाणी में इसका मात्र संकेत आता है। अरे, जो विकल्प को भी गम्य नहीं होता, ऐसा 'निर्विकल्प अनुभव' वाणी से किसप्रकार गम्य हो? वह तो स्वानुभवगम्य है।

कोई सज्जन मिश्री (शर्करा) का मीठा स्वाद लेते हों, वहाँ कोई दूसरा व्यक्ति जिज्ञासापूर्वक उस मिश्री खानेवाले को देखे अथवा उसके पास से मिश्री के मीठे स्वाद का वर्णन सुने तो उससे कुछ उसके मुँह में मिश्री का स्वाद आ नहीं जाता; स्वयं मिश्री का टुकड़ा लेकर मुँह में रखकर चूसे, तब ही उसको मिश्री के मीठे स्वाद का अनुभव होता है; वैसे ही कोई सज्जन अर्थात् संत धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प स्वानुभव में अतीन्द्रिय आनंद का मीठा स्वाद लेता हो, वहाँ दूसरे जीव जिज्ञासापूर्वक उस अनुभवी धर्मात्मा को देखें और उसके पास से प्रेमपूर्वक वह अनुभव का वर्णन सुनें तो उससे कुछ उनको निर्विकल्प अनुभूति का स्वाद नहीं आ जाता। यदि जीव स्वयं शुद्धात्मा को लक्ष्य में ले, उसको ही मुख्यकर जब अंतर्मुख उपयोग द्वारा स्वानुभव करे, तब ही उसको शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद वेदन में आता है। ऐसा स्वानुभव होने पर सम्यग्दृष्टि जानता है कि अहा! मुझे मेरी वस्तु प्राप्त हुई। मेरे में ही रही हुई मेरी वस्तु को मैं भूल गया था, वह धर्मात्मा गुरुओं के

अनुग्रह से मुझे प्राप्त हुई। स्वयं की वस्तु स्वयं में ही है, वह निजध्यान द्वारा प्राप्त होती है, बाहर के किसी रागादि भाव द्वारा वह प्राप्त नहीं होती अर्थात् अनुभव में नहीं आती। सविकल्प द्वार द्वारा वह निर्विकल्प में आई—ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वरूप के अनुभव का उद्यम करते-करते पहिले उसके सविकल्प विचार की धारा छूटती है, उसमें सूक्ष्म राग और विकल्प होते हैं, लेकिन वह राग को अथवा विकल्प को अभावरूप साधन बनाकर विकल्पों के द्वारा स्वानुभव नहीं होता अर्थात् विकल्प को साधन बनाकर कुछ स्वानुभव में पहुँच नहीं जाता। राग को और विकल्पों को लांघकर सीधे आत्मस्वभाव को अवलंबन में लेकर उसको ही साधन बनावे, तब ही आत्मा का निर्विकल्प स्वानुभव होता है; और तब ही जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रों ने उसकी अपार महिमा गाई है।

[सविकल्प में से निर्विकल्प अनुभव होने की जो बात की, उस संबंध में अब शास्त्राधार देकर स्पष्टता करेंगे।] ***( पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी ऊपर के प्रवचन में से )***

'मैं ज्ञाता हूँ-ऐसा, ज्ञानसन्मुख होकर न परिणमे, रागादि का कर्ता होकर परिणमे तो जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायक-सन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसके स्वभाव-सन्मुख परिणमन में शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्मा का 'ज्ञान' स्वभाव है, उसको लक्ष्य में लेकर तू विचार कि 'इस ओर मैं ज्ञायक हूँ—मेरा सर्वज्ञ स्वभाव है,' तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध होगी अथवा अक्रमबद्ध? स्वयं के ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार किया जाये तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात सरलता से बैठ जाये ऐसी है; लेकिन ज्ञानस्वभाव को भूलकर जो विचार करता है तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता।

अहो! यह तो आत्महित के लिये अत्यंत प्रयोजनभूत, स्वानुभव की उत्तम बात है। स्वानुभव की इतनी सरस वार्ता भी महान भाग्य से सुनने को मिलती है, तब उस अनुभवदशा की तो क्या बात!!

मोक्षमार्ग का उद्घाटन निर्विकल्प-स्वानुभव से होता है।

# स्वानुभव की ओर झुकनेवाली विचारधारा

## 'स्वानुभव' ही आराधना का सच्चा अवसर है

तत्त्व के अवलोकन के समय शुद्धात्मा को युक्तिमार्ग से (नय-प्रमाण द्वारा) पहिले जाने, उसके बाद आराधना अर्थात् अनुभव के समय नय-प्रमाण की कोई जरूरत नहीं; क्योंकि ऐसे समय प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्न की खरीदी के समय तो व्यापारी अनेक विकल्प करता है, लेकिन प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष पहरते वक्त कोई विकल्प नहीं करता, उस समय तो पहिनने का सुख ही है—ऐसा 'नयचक्रा' ग्रंथ में कहा है।

देखो, चैतन्य का अनुभव समझाने के लिये उदाहरण भी रत्न का दिया है। उत्तम वस्तु समझाने के लिये दृष्टांत भी उत्तम वस्तु का ही दिया। रत्न लेने कौन निकले? कोई मामूली व्यक्ति रत्न लेने नहीं आवेगा लेकिन उत्तम-पुण्यवान् व्यक्ति ही रत्न खरीदने आवेगा; ऐसे ही यहाँ उत्तम जीव-आत्मार्थी जीव चैतन्य के अनुभवरूप रत्न लेने आया है, उसकी बात है। ऐसे जीव को पहिले सविकल्प विचारधारा में आत्मा के स्वरूप का अनेक प्रकार चिंतन होता है। जैसे रत्न खरीदनेवाला खरीदते समय उस संबंधी अनेक विचार करता है; रत्न की जाति कैसी, उसकी झलक कैसी, तेज कैसा, वजन कितना, आकृति कैसी, रंग कैसा, कीमत कितनी, गले में पहिनने से वह कैसा सुशोभित होगा-इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पों से चारों ओर से रत्न का स्वरूप निश्चित करता है, और बाद में उस रत्नहार की कीमत चुकाकर उसे खरीदकर जब गले में साक्षात पहिनता है, तब तो हार की प्राप्ति के संतोष का सुख ही है, दूसरे विकल्प वहाँ रहते नहीं; उसीप्रकार चैतन्य रत्न की प्राप्ति के समय उद्यमी जीव पहिले तो सविकल्प विचारदशा में अनेक प्रकार से उसके स्वरूप का चिंतन करता है; मेरा स्वभाव द्रव्यदृष्टि से शुद्ध सिद्ध-समान है, पर्यायदृष्टि से मेरे में मलिनता है; मोक्षमार्ग निश्चय से शुद्ध स्वभाव के ही आश्रित है; राग को यदि मोक्ष का कारण माना जाये तो आस्रव और संवरतत्त्व भिन्न न रहें; उपयोग को अंतर्मुख करने से ही शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और तब ही अतीन्द्रिय आनंद का वेदन प्रगट होता है। इस तरह अनेक प्रकार युक्ति से, नय-प्रमाण वगैरह से चैतन्यरत्न के स्वरूप को निश्चित करे। 'आत्मा का स्वरूप कैसा? उसकी शक्तियाँ कैसी? उसका कार्य कैसा? उसके प्रदेश कैसे? उसके भाव कैसे? स्वभावभाव कौन से? विकारीभाव कौन से?

उपादेयरूप शुद्धस्वरूप कैसा? उसके अनुभव का सुख कैसा? उसका प्रयत्न कैसा?'—इसतरह अनेक प्रकार से विचार करके स्वरूप निश्चित करते समय साथ में विकल्प होते हैं; लेकिन बाद में सभी पक्षों से स्वरूप बराबर निश्चित कर, उसकी उत्कृष्ट महिमा लाकर प्रयत्नपूर्वक जब उपयोग को अंतर्मुख करके आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है तब तो वह अनुभव के आनंद का ही वेदन करता है, उपर्युक्त कोई विकल्प उस समय होते नहीं।—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प अनुभव होता है। ऐसा अनुभव करना, यह ही आराधना का यथार्थ स्वरूप है; ऐसा अनुभव ही सत्य आराधना है। पहिले विचाद-दशा में विकल्प था, उससे सविकल्पदशा में यह अनुभव हुआ-ऐसा कहा, परंतु यथार्थ में कुछ विकल्प द्वारा अनुभव हुआ नहीं, विकल्प टूटा, तब 'साक्षात्' अनुभव हुआ है, और उस अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहा है। 'पच्चक्खो अणु हवोजम्हा' ['प्रवचनसार' गाथा ८० में भी मोह -क्षय का उपाय दिखलाते वक्त ऐसी ही शैली का वर्णन किया है। वहाँ पहिले अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान द्वारा स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार आता है, फिर साक्षात् अनुभव करता है-यह बतलाया है।]

'विचार तो विकल्पपूर्वक होता है' ऐसा समझ कोई जीव विचारधारा ही न उठाये, तो कहते हैं कि भाई! विचार में कुछ अकेला 'विकल्प' ही नहीं; विचार के साथ 'ज्ञान' भी तत्त्वनिर्णय का काम करता है। उसमें 'ज्ञान' की मुख्यता कर और 'विकल्प' को गौण कर। इस प्रयोग का अभ्यास करते-करते ज्ञान का बल बढ़ते जाने से विकल्प टूट जायेगा और ज्ञान रह जायेगा, अर्थात् 'विकल्प' से पृथक् 'ज्ञान' अंतर में झुककर स्वानुभव करेगा। लेकिन जो जीव तत्त्व का अन्वेषण ही करता नहीं, आत्मा की विचारधारा ही जो उठाता नहीं, उसको तो निर्विकल्प स्वानुभव कहाँ से होगा? इसलिये जो जिज्ञासु होकर स्वानुभव करना चाहता है, वह यथार्थ तत्त्वों का अन्वेषण कर 'तत्त्वनिर्णय' करता है और स्वभाव तरफ की विचारधारा उठाता है, वह स्वयं का कार्य अधूरा नहीं रखेगा; वह पुरुषार्थ द्वारा विकल्प तोड़कर, स्वरूप में उपयोग जोड़कर निर्विकल्प स्वानुभव करेगा ही। स्वभाव के लक्ष्य से जो उद्यम शुरु किया, वह विकल्प में रुकेगा नहीं, विकल्प में संतोष पायेगा नहीं; वह तो स्वानुभव के बल द्वारा कृतकृत्यदशा प्रकट करके ही रहेगा। इसीलिये कहा है कि 'विचार करो, तो पाओ'

स्वानुभव का वर्णन आगामी अंक में।

# आत्मा क्या है और वह क्या करता है ?

(समयसार, कलश ६२ ऊपर के प्रवचन में से)

[जिस वस्तु का जिस भाव में अस्तित्व हो, उस भाव में ही उसका कार्य भी होगा, वस्तु का कार्य स्वयं के निजभाव से बाहर नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानभाव में उसका अस्तित्व है अर्थात् ज्ञानभाव में ही उसका कार्य है। ज्ञान से बाहर उसका कुछ कार्य नहीं। ज्ञानभाव में ही स्वयं की सत्ता जानता हुआ धर्मी जीव कहता है कि हमको अपने चैतन्य का उत्साह है, परभाव का उत्साह नहीं। चैतन्य का प्रेम कभी छूटने का नहीं और राग का प्रेम कभी होने का नहीं। कोई परभाव आकर हमारे चैतन्य के उत्साह का रंग ले जाये, ऐसा कभी बनने का नहीं। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के कार्य को करता हुआ धर्मी जीव मोक्ष को साधता है।]

यह चैतन्य तत्त्व क्या चीज़ है और क्या कार्य कर सकता है, वह बात अनादि से अज्ञानी जीव ने जानी नहीं। शास्त्र कहते हैं कि—

**जड़भावे जड़ परिणमे, चेतन चेतनभाव;**
**कोई कोई पलटे नहिं छोड़ी आप स्वभाव।**

जड़, जड़भाव से परिणमता है; चेतन, चेतन भाव से परिणमता है। अपना स्वभाव छोड़कर कोई पलटता नहीं। आत्मा भी स्वतन्त्र द्रव्य है। स्वरूप से सदा है, पररूप से कभी नहीं है। अत: वह भी कभी भी पर का कर्ता-भोक्ता व स्वामी नहीं बन सकता।

आत्मा जड़ से भिन्न तत्त्व है, वह तीन काल जड़ से भिन्न ही रहता है। आत्मा स्वयं के चेतन भाव को छोड़कर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ अपनी जड़ता को छोड़कर कभी चेतन नहीं होता। दोनों पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न स्वयं के भाव में ही रहे हुये हैं। ऐसा भिन्न वस्तु स्वरूप का भान करना, वह धर्म की पहिली रीति है।

भिन्नपना समझे तो स्वयं कौन है और स्वयं का कार्य क्या है—वह समझे, और पर के कार्यों की कर्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व टले; परिणति अपनी ओर झुके और स्वाश्रय से निर्मल परिणति प्रगट हो-उसका नाम 'धर्म' है।

आत्मा क्या है और उसका कार्य क्या है ? यह बात यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप वस्तु है, वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान से भिन्न दूसरा क्या करे ? ज्ञानस्वरूप

आत्मा तो स्वयं के ज्ञानभावों को ही करेगी, लेकिन ज्ञान से भिन्न दूसरे पदार्थों में आत्मा कुछ करता नहीं। पाठशाला के बालकों को भी पहिले से यह श्लोक सिखाया जाता है कि—

**आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानात् अन्यत् करोमि किम्।**
**परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥**

चेतन परिणामी आत्मवस्तु, वह स्वयं के चेतन परिणाम को ही करती है, और वास्तविक तो स्वसन्मुख रहकर ज्ञानभाव से परिणमना, वह ही आत्मा का स्वरूप है। रागादि भावरूप से परिणमना, वह भी ज्ञान का स्वरूप नहीं, तो फिर भिन्न ऐसे परद्रव्यों में आत्मा क्या करे? 'मैं करूँ' ऐसी मात्र कल्पना करता है, यह तो अज्ञानी का मोह है, उस कल्पना द्वारा भी कुछ परद्रव्य का काम तो आत्मा कर नहीं सकता।

भाई, जड़ शरीर में तेरा अस्तित्व ही नहीं, तो उसके कार्य में तू क्या करे? जड़ का कार्य यदि तू करे तो तेरा अस्तित्व जड़रूप हो जाये, तू ज्ञानस्वरूप न रहे। क्योंकि जिस कार्य का जो कर्ता है, उस कार्य में उसका अस्तित्व है। जड़ के कार्य का कर्ता यदि आत्मा हो तो आत्मा का अस्तित्व जड़ वस्तु में चला जाये, पर ऐसा तो त्रिकाल में नहीं बनता, क्योंकि—

'जड़ जड़ है तीन काल में चेतन चेतन होय।'

अचेतन द्रव्य को जड़ कहा है, जड़ अथवा चेतन पदार्थ तीनों काल स्वयं स्वयं के स्वरूप ही रहता है। ऐसी भिन्न वस्तुस्थिति है, तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं पर का कर्ता हूँ'। उसकी यह मान्यता मिथ्यात्व ही है। अज्ञानी जीव भी स्वयं के रागादि अज्ञानभावों को करता है, पर के काम को तो वह भी नहीं करता।

प्रत्येक पदार्थ सत् है और उस सत् की मर्यादा स्वयं स्वयं के स्वकार्य में है। स्वयं की मर्यादा छोड़कर पर के कार्य में कोई वस्तु कुछ कर सकती नहीं। आत्मा अनंत शक्ति के गंभीर स्वभाव से परिपूर्ण है। लेकिन वह शक्तियों का कार्य स्वयं में ही समाविष्ट होता है, आत्मा में भी ऐसी एक भी शक्ति नहीं कि पर में कुछ काम करे। भाई, ऐसा पर से भिन्नपना होने से पर में तेरा अत्यंत अकर्तापन है, वहाँ पर के कर्तृत्व का यह मोह क्या? पर में अत्यंत अकर्तापन समझे तो परिणति को अंतर में अपनी तरफ लाने का अवकाश रहे। लेकिन पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि में ही जिसकी परिणति मशगूल है, वह अपनी ओर कब झुके? और आत्मा का अनुभव कब करे?

[इस लेख का बाकी का भाग आगमी अंकों में]

# ज्ञानी की सहज वैराग्य परिणति

[जिसे अतीन्द्रिय सुख से भरा हुआ स्व-पदार्थ सुंदर लगता है, उसे जगत के किसी भी पदार्थ में सुंदरता नहीं मालूम होती, अर्थात् ज्ञानी को अन्यत्र कहीं भी रुचता नहीं है।]

सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय आत्म-सुख का स्वाद आ गया है, इसलिये बाह्य विषयों के सुख-जो आत्मस्वभाव से प्रतिकूल ही हैं-उनमें धर्मी को जरा भी रस नहीं आता। अज्ञानी को चैतन्य सुखरस की बिल्कुल खबर नहीं है, अर्थात् उसे तो राग में और राग के फलरूप विषयसुख में रस है।

धर्मी चाहे गृहस्थ हो, चाहे चक्रवर्ती हो, उसे चैतन्य सुख के स्वाद से विपरीत ऐसे विषय सुखों में रस नहीं है। वह अंतरंग चैतन्यसुख की आत्मतृप्ति के सामने विषयसुखों की आकुलता को विष समान समझता है, अत: 'सदन-निवासी तदपि उदासी' जैसा है।

अज्ञानी कभी भले ही त्यागी भी हुआ हो, किंतु चैतन्य सुख से विपरीत ऐसे विषयसुख की रुचि उसे अत्यंत गहरी है, कारण कि जिसको राग की रुचि होती है, उसे उसके फल की भी रुचि होती ही है और चैतन्य सुख के स्वाद का तो उसे पता ही नहीं है। राग का फल दु:ख और बाह्य विषयों की रुचि है; राग से जिसे प्रीति होगी, उससे विषयों की प्रीति कैसे छूटेगी?

अतीन्द्रिय आनंद के अनुभव सहित जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उसमें विषय सुखों की प्रीति कैसे होगी? ये विषय तो आत्मा के बैरी हैं। निजात्मा से उत्पन्न अनाकुल स्वाद और पराश्रयरूप आकुलता, दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। जो ज्ञान आकुलता से छुटाकर चैतन्य के निराकुल सुख का संवेदन नहीं कराता, वह ज्ञान किस काम का? वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं है, अज्ञान है।

**प्रश्न**—बाह्य भोगों से छूटने पर ही 'सम्यग्ज्ञान' माना जाये, यह बात बराबर है न?

**उत्तर**—नहीं, क्योंकि बाह्य भोग तो चारित्रदोषवश अविरति सम्यग्दृष्टि के भी हो सकते हैं, किंतु उनमें उसे अंदर से जरा भी सुखबुद्धि नहीं होती। चैतन्य सुख के सिवा जिसे अन्यत्र कहीं भी सुख भासित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थदशा में होने पर भी उनका सर्वज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है, बाह्य भोगों में ऊपर-ऊपर से वह दिखाई देता है किंतु उसे तो बाह्य भोगों में

और समस्त शुभाशुभ औदयिकभावों में न सुखबुद्धि है, न हितबुद्धि है। बाह्य भोगों में जिसे सुख भासित होता है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं है।

मुनिदशा होने पर तो चारित्रदशा में तीन जाति के रागादि कषाय छूट ही जाते हैं। वहाँ नोकर्म वस्त्रादि का तो राग है ही नहीं, तथा 'बाह्य भोग' तो संयोगरूप में भी नहीं होता; वहाँ तो केवल अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग रहता है। अहा, देखो, चैतन्य के अनुभवरूप 'ज्ञान कला' जो अपूर्व है। वह ज्ञान कला जिसे प्रगट होती है, उसका वैराग्य भी जगत में अलौकिक होता है। कहा भी है—

**ज्ञानकला जिसके घट जागी,**
**वह जग मांहि सहज वैरागी;**
**ज्ञानी मगन विषय-सुख मांही।**
**यह विपरीत संभवे नाँही।**

जिसे अपना ज्ञानानंदस्वभाव ही अच्छा लगता है, उसे जगत के किसी भी पदार्थ में सुंदरपना नहीं मालूम पड़ता और जिसको पर संयोग में सुंदरता मालूम होती है, उसको अपना निर्मल द्रव्यस्वभाव अच्छा नहीं लगता। 'स्वभाव' और 'संयोग वा संयोगीभाव' दोनों की रुचि एक साथ नहीं होती। ज्ञानी को अपनी आत्मा के सिवाय अन्य कोई विषय रुचता नहीं। सर्वत्र उदास ही है। अपनी शक्ति अनुसार स्वरूप में ही सावधान रहता है। ज्ञानी को निज शुद्धात्मा के संवेदन की परम प्रीति रहती है और बाह्य विषयों के प्रति तीव्र वैराग्य होता है। ज्ञानी की ऐसी 'सहज ज्ञान वैराग्य परिणति' अलौकिक है। (ऊपरी-ऊपरी संयोगों के द्वारा अथवा बाह्य कषाय की तीव्रता-मंदता के द्वारा ज्ञानी की परीक्षा नहीं होती।)

# प्यासे के लिये प्याऊ

संसार में जिसे कुछ भी प्रिय नहीं, चैतन्य वीतराग-निर्विकल्प आनंद रस की ही जिसे प्यास है, जिसे राग की तथा पुण्य की प्यास नहीं, ऐसे परमानंद के पिपासु भव्य जीवों के हेतु शास्त्रों में परमानंद की धार बहा दी है। वाह, संतों ने तो परम आनंद की प्याऊ लगाई है। जैसे प्रचुर ग्रीष्म में तृषातुर के लिये शीतल जल के मधुर शर्बत की प्याऊ लगाई हो और तृषातुर जीव वहाँ आके प्रेम से उसका पान करे तो उसका हृदय तृप्त हो; उसीप्रकार संसार वन की आकुलतारूपी ग्रीष्म में भ्रमण करते-करते थके हुए प्राणी के हेतु भगवान के समवसरण में और संतों की छाया में वीतरागी आनंदरस की प्याऊ लगी है, वहाँ परमानंद के पिपासु भव्य जीव जिज्ञासा से प्रेम से आकर शुद्धात्मा के अनुभवरूप अत्यंत मधुर अमृतरस का पान करके तृप्त होते हैं, अरे! कहाँ नवमीं ग्रैवेयक से लेकर सप्तम नर्क तक की दुखद दावानल, और कहाँ इस चैतन्य के परम आनंद अनुभवरूपी सुख के वेदन की शांति। अरे! चैतन्य के परम आनंद अनुभव बिना सब ही दुःखरूप लगता है, इससे भयभीत होकर जो चैतन्य सुख के लिये लालायित, ऐसा जीव शुद्धात्मा के अनुभव की ओर जाते हैं, उन्हें पंच परमेष्ठी की भक्ति तथा शुद्ध आत्मा का रत्नत्रय ही प्रिय में प्रिय है, ऐसे जीवों को स्वानुभव रस का पान कराके संत उनकी तृषा मिटाते हैं।

# जिन पूजन ही शुभोपयोग है

रात-दिन विषय-कषायों में संलग्न गृहस्थ के लिये भगवत् पूजन ही उद्धार का मार्ग है, विवेक सहित पूजन करने से आत्मपरिणति निर्मल होती है, कषायें मन्द होती हैं और चित्त में शांति आती है। आरंभ और परिग्रह की भट्टी में जलनेवाला श्रावक पूजन के द्वारा शीतल जलकण प्राप्त करता है और आरंभमयी प्रवृत्तियों को शांत करता है। पूजन करनेवाला दरिद्री नहीं होता; विकलांग, पुत्रहीन, कुटुंबहीन एवं संपत्तिहीन नहीं होता। इस कलिकाल के लिए भगवत् पूजन ही संसार-समुद्र से पार उतारनेवाली है। जो गृहस्थ जिन पूजन नहीं करता, वह अपने अनंत संसार की वृद्धि करता है। पूजन यद्यपि शुभराग है, पर है शुभोपयोग का साधन।

प्रेषक—सूजनभान जैन, आगरा

# सम्यक्त्व-महिमा

[सम्यग्दर्शन की महिमा शास्त्र में जगह-जगह भरी है, उसमें से कुछ नमूने]

यह सम्यग्दर्शन महान रत्न है, सर्वलोक का एक भूषणरूप है, अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्वलोक में अत्यंत शोभायमान है और वही मोक्षपर्यंत सुख देने में समर्थ है।

ज्ञान और चारित्र का बीज सम्यग्दर्शन ही है। यम और प्रशमभाव का जीवन सम्यग्दर्शन ही है-और तप तथा स्वाध्याय का आधार भी सम्यग्दर्शन ही है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

विशेष ज्ञान-चारित्र न हो, तो भी यदि अकेला मात्र सम्यग्दर्शन ही हो तो भी वह प्रशंसनीय है; परंतु मिथ्यादर्शनरूपी विष से दूषित हुआ ज्ञान या चारित्र प्रशंसनीय नहीं।

सूत्रज्ञ आचार्यदेवों ने कहा है कि यम-नियम-तप वगैरह अति अल्प हों, तो भी यदि वे सम्यग्दर्शनसहित हों तो भव समुद्र के क्लेश के भार को हलका करने के लिये औषधि हैं।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि जिसको 'दर्शन विशुद्धि' हो गयी है, वह पवित्र आत्मा मुक्त ही है, ऐसा हम जानते हैं, क्योंकि दर्शनविशुद्धि को ही मोक्ष का मुख्य कारण कहा जाता है।

इस जगत् में ज्ञान और चारित्र के पालन में प्रसिद्ध हुवे, वे जीव भी सम्यग्दर्शन बिना मोक्ष को नहीं पा सकते।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवो! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भंडार है, सर्व कल्याण का बीज है। यह संसाररूपी समुद्र से तिरने के लिये जहाज है। एक भव्य जीव ही उसको पा सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये वह कुल्हाड़ी समान है। पवित्र तीर्थों में वही प्रधान तीर्थ है और वह मिथ्यात्व का घातक है।

(ज्ञानार्णव, अध्याय ६, गाथा ५३ से ५९)

# समाचार संग्रह

**सोनगढ़**—तारीख २-६-६७ परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। तारीख १-६-६७ को राजकोट से सोनगढ़ पधारे, भव्य स्वागत हुआ। गाँव के सभी लोगों ने खुशियाँ मनाईं। स्वामीजी के प्रवचन में सवेरे श्रावकाचार, श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय तथा दोपहर को श्री समयसार चलते हैं। श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थयात्रा निमित्त पूज्य स्वामीजी का इस वर्ष बहुत लम्बा विहार हुआ, उसमें दो जगह जिनेन्द्र भगवान के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, दो जगह वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव (जयपुर तथा उदयपुर) तथा श्री टोडरमलजी स्मारक भवन के उद्घाटन निमित्त बड़ा भारी उत्सव हुआ। बिहार, म०प्र०, उ०प्र०, राजस्थान के तीर्थक्षेत्रों की वंदना करते हुए स्वामीजी ने उत्तम प्रकार जैनधर्म की महिमा प्रगट की है तथा सर्वज्ञ वीतराग कथित जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया है। अत: यह ऐतिहासिक विशाल यात्रा चिरस्मरणीय रहेगी। इस तीर्थयात्रा संघ के व्य० मंत्री श्री चिमनलाल ठाकुरशी मोदी ने आज सभा में पूज्य स्वामीजी के महान पुण्य और पवित्रता के प्रभाव द्वारा सभी यात्रिकों की निर्विघ्न यात्रा हुई, उनका वर्णन करके पूज्य स्वामीजी का उपकार माना तथा सहयोगदाताओं का तथा जहाँ-जहाँ पूज्य स्वामीजी का पदार्पण हुआ, वहाँ-वहाँ **जैन समाज ने जो यात्रासंघ तथा पूज्य स्वामीजी के सेवा में नि:संकोचतया अनुपम उत्साह, प्रेम, भक्ति, वात्सल्य बताया है, इसलिये उन सभी दिगम्बर जैन समाज का आभार प्रगट किया।**

इस यात्रा के अवसर पर हजारों धर्मजिज्ञासुओं को आशातीत लाभ—जैनधर्म की महिमा और तत्त्वज्ञान समझने का लाभ हुआ है इत्यादि वर्णन किया। पूज्य बहिन श्री बहिन ने हजारों यात्रियों की सुविधा की खास चिंता रखकर यथास्थान योग्य सूचना और मार्गदर्शन दिया। अत: उनका भी उपकार माना गया। —ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

# शिक्षण शिविर

**द्रोणगिरि**—तारीख ४-५-६७ से जैन शिक्षण शिविर शुरु होकर तारीख २३-५-६७ को समाप्त हुआ, सिद्धक्षेत्र की पवित्र भूमि पर श्री गुरुदत्तादि दिगम्बर जैन आश्रम के ब्रह्मचारीगण समय पर बराबर भाग लेते थे; शिक्षण की क्लास प्रतिदिन ४ समयों में थी, शिक्षण

के विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक, पंचास्तिकाय, समयसार कर्ताकर्म अधिकार, जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला; बाहर गाँव से भी शिक्षार्थी आये थे, सबने अपनी योग्यतानुसार लाभ लिया, संचालक आश्रम के अधिष्ठाता ब्रह्मचारी भंवरलालजी हैं।

*—श्री ब्रह्मचारी नित्यानंदजी शास्त्री, द्रौणगिरि*

## जैनदर्शन शिक्षण शिविर

**सोनगढ़**—हर साल माफिक जैन शिक्षणवर्ग इस साल भी श्रावण सुदी ५ तारीख १०-८-६७ से तारीख २९-८-६७ वदी ९ तक २० दिन चलेगा, लाभ लेने के इच्छुक जैन बन्धुओं को सादर हार्दिक आमंत्रण है। आने के पूर्व पत्र द्वारा सूचना भेजना जरूरी है। यह कक्षायें मात्र पुरुषों के लिये हैं।

दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

## ज्ञान बिना शिव पंथ न सूझे

काज बिना न करे जीव उद्यम, लाज बिना रण में ही न जूझे।
दील बिना न सधै परमारथ, बिना सत्तसों न अरूझे॥
नेम बिना न लहे निश्चेपद, प्रेम बिना रस रीत न बूझे।
ध्यान बिना न बँभे मन की गति, ज्ञान बिना शिव पथ न सूझे।

(बनारसी विलास)

नया प्रकाशन

## जयपुर ( खानियां ) तत्त्वचर्चा भाग १-२

बड़े आकार के दो पुस्तक पृष्ठ संख्या ८५०, मूल्य १६-०, पोस्टेजादि अलग, प्रकाशक टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला, ठि० पंडित टोडरमलजी स्मारक भवन, बापूनगर, प्लोट नं० ए-५, जयपुर। आचार्य श्री शिवसागर मुनि महाराज के सामने दो पक्ष के विद्वानों द्वारा जो लिखित चर्चायें हुई थीं, वही इस ग्रंथ में छपवा दी हैं। मध्यस्थ होकर जिज्ञासुगण स्वतंत्रतया निर्णय करें।

## आत्मधर्म के ग्राहकों से निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा जो निर्मल तत्त्वज्ञान प्रगट हो चुके हैं, उनकी परंपरा से ही यह प्रचार होता है। नयी बात नहीं है। स्वाश्रय से ही पवित्र मोक्षमार्ग और उसका फल तथा उससे विपरीतता में बंध मार्ग और उसका फल संसार होता है, इस महान सिद्धांत को समझ ले तो स्वसन्मुखता और सच्चा भेदविज्ञान होता है। आत्मधर्म के ग्राहकों की संख्या २५०० उपरान्त हो चुकी है। आगामी चैत्र मास में वार्षिक शुल्क (चंदा) पूर्ण हो जाता है। और वैशाख मास से नया वर्ष शुरु होता है, उसे याद करके शीघ्रता से मनिआर्डर द्वारा या हरेक गाँव में जितनी संख्या में ग्राहक हों, एक साल के तीन रुपये के हिसाब से एकत्र करके प्रथम से ही रुपया भेज दीजियेगा। वी.पी. करने में व्यर्थ ८५ पैसे खर्च और अनेक कठिनाई रहती है। चंदा भेजते समय आपके चालू ग्राहक नंबर और पता स्पष्ट लिखियेगा। जो भाई बहुत पीछे से चंदा भेजते हैं, और दो मास बाद ग्राहक बनते हैं। उन्हें अंक की कमी पड़ जाने से पूर्व के अंक नहीं भेज सकते हैं। अत: सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र ज्ञानयज्ञ में सहयोग देकर अपने परिचितों को ग्राहक बनाकर ग्राहक संख्या बढ़ाने की प्रार्थना है। अब की बार आत्मधर्म का वार्षिक चंदा-तीन रुपया वार्षिक रखा है।

## श्री टोडरमल ग्रंथमाला जयपुर के

# नये प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १. | श्री टोडरमल जयन्ती स्मारिका | २) |
| २. | जयपुर (खानियां) तत्त्वचर्चा, भाग १ व २, महत्त्वपूर्ण बड़ा ग्रंथ | १६) |
| ३. | अध्यात्म संदेश (टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर विस्तृत प्रवचन) | १)५० |
| ४. | मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपाय तत्त्व निर्णय | )१५ |
| ५. | शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति | )२० |
| ६. | मोक्षमार्गप्रकाशक | २) |
| ७. | पद्मनंदी पंचविंशतिका में से ऋषभ जिनस्तोत्र सार्थ | ..... |
| ८. | पंडित टोडरमलजी का परिचय | ..... |
| ९. | अमृत वाणी | ..... |

उपरोक्त ग्रंथ जयपुर में दिनांक १३-३-६७ को टोडरमल स्मारक भवन के उद्घाटन अवसर पर प्रकाशित हुए हैं, स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षु बन्धुगण उक्त ग्रंथ मँगाकर ज्ञान यज्ञ में सहयोग देवें।

मंगाने का पता—

**भँवरलाल शाह**

ठि० चित्तरंजन मार्ग, सी. स्कीम, शांतिनिवास

जयपुर (राजस्थान)

---

# मोक्षमार्गप्रकाशक ( आधुनिक हिन्दी भाषा में )

आचार्यकल्प श्री पंडित प्रवर टोडरमलजी कृत यह उत्तम रचना है। मूल स्वहस्त लिखित प्रति द्वारा अक्षरशः अनुवाद कराके, मिलान कराके, बड़े भारी श्रमपूर्वक और अपूर्व उत्साह द्वारा यह प्रकाशन छप चुका है और पंडित जी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा कविवर पंडित बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका; निमित्त-उपादान चिट्ठी यह तीन अधिकार भी मूल प्रतियाँ प्राप्त करके प्रकाशन में लगा दी हैं। प्रथम से ही इनके १०५०० संख्या के ग्राहक हो चुके हें। वे सब साधर्मीजन तीव्र जिज्ञासा सहित भारी तकादा कर रहे हैं, अब उन्हें आर्डर के माफिक प्रतियाँ शीघ्र ही भेजी जा रही हैं। लागत मूल्य ४.५० हुआ है किंतु इसका उत्तम ज्ञान प्रचार हेतु मात्र २) मूल्य रखा गया है। जिन्हें पुस्तक चाहिये, वे शीघ्रता से नये आर्डर बुक करा देवें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग (सुख का उपाय) समझने के लिये परमोपकारी हैं, उनका अपूर्व यथार्थ लाभ लेने के लिये निम्नोक्त ग्रंथों का —

## अवश्य स्वाध्याय करें

| | |
|---|---|
| श्री समयसार शास्त्र | ५–० |
| श्री प्रवचनसार शास्त्र | ४–० |
| श्री नियमसार शास्त्र | ४–० |
| श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र | ३–५० |
| समयसार प्रवचन, भाग १–२–३ | अप्राप्य |
| समयसार प्रवचन भाग ४ | ४–० |
| [कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३] | |
| आत्मप्रसिद्धि | ४–० |
| मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ–९०० | ५–० |
| स्वयंभू स्तोत्र | ०–५० |
| मुक्ति का मार्ग | ०–५० |
| मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र० | १–० |
| '' ''द्वितीय भाग | २–० |
| जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १–२–३प्र. | ०–६० |
| योगसार–निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा. | ०–१२ |
| श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत) | ०–३५ |
| श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि | १–० |
| बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा | ०–७५ |
| देशव्रत उद्योतन प्रवचन | छपेगा |
| अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार) | १–५० |
| मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) आधुनिक भाषा में | २–० |
| समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में | २–७५ |
| जैन बाल पोथी | ०–२५ |
| छहढाला बड़ा टाईप (मूल) | ०–१५ |
| छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र | १–० |
| ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव | प्रेस में |
| सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति) | १–८५ |
| जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह | १–४५ |
| अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा. | प्रेस में |
| भेदविज्ञानसार | २–० |
| अध्यात्मपाठ संग्रह | ४–० |
| वैराग्य पाठ संग्रह | १–० |
| निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ? | ०–१५ |
| स्तोत्रत्रयी | ०–५० |
| लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | ०–२५ |
| 'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये | २–० |
| '' पुरानी फाईलें सजिल्द | ३–७५ |
| शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी | ०–१२ |
| जैनतत्त्व मीमांसा | १–० |
| बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८) ग्रन्थ का मात्र | ६–० |
| अभिनंदन ग्रंथ | ७–० |

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
**श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।